UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180932

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No. H81.6/R16R Accession No. G.H. 2265
Author राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह
Title राष्ट्रीय-कृषि-१९५३
This book should be returned on or before the date last marked below.

राधा-कृष्ण

लेखक की अन्य रचनाएँ

अम्बपाली

(बौद्धकालीन जीवन की सरस झाँकी)

इसमें कवि की लेखनी आपको बतलायेगी कि सुन्दरता के अभिशाप के फलस्वरूप किस प्रकार विश्व-मोहिनी अम्बपाली को नगरवधू बनना पड़ा और बाद में भगवान् बुद्ध का प्रत्यक्ष दर्शन पाकर उसका जीवन कैसे तपस्विनी के सांचे में ढल गया। भावों के हिलोर से आप मुग्ध हो जायेंगे। पृष्ठ ३२०; मूल्य ३॥)

संकलिता

कवि की ७० फुटकल सुमधुर रचनाओं का संग्रह। पृ० १८४; मू० २॥)

अन्तर्ध्वनि

इस पुस्तिका में कवि के ६० भक्ति तथा विनय-भरे स्फुट गीतों का संग्रह है। ये मधुर गीत आपके हृदय को भाव-विभोर कर डालेंगे। पृष्ठ ६०; मूल्य ॥।)

अमृतप्रभा

आज से हज़ारों वर्ष पूर्व कामरूप—आसाम—के तत्कालीन हिन्दू सम्राट् प्राग्ज्योति की एकमात्र कन्या अमृतप्रभा ने काश्मीर के राजकुमार मेघवाहन का स्वयंवर में वरण किया था, इसी आख्यान की चर्चा इस छोटे से काव्य में की गई है। पृष्ठ ४४; मूल्य ॥=)

रूसी क्रान्ति के अग्रदूत

इस सचित्र पुस्तक में रूसी क्रान्ति के महान् नेताओं की संघर्षपूर्ण जीवनियाँ प्रस्तुत की गई हैं। इस पुस्तक में आपको इतिहास की प्रामाणिकता और उपन्यास की रोचकता एक साथ मिलेगी। पृष्ठ १७०; मूल्य ४)

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

राधा-कृष्ण

अमर कहानी, कोमल कल्पना तथा सजीव लेखनी
के अनुपम संयोग

लेखक

राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह

दो शब्द

श्री मैथिलीशरण गुप्त

१९५५

आत्माराम एण्ड संस

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

काश्मीरी गेट

दिल्ली–६

प्रकाशक

रामलाल पुरी

आत्माराम एण्ड संस

काश्मीरी गेट, दिल्ली–६

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

प्रथम संस्करण सं० २०१०

द्वितीय संस्करण सं० २०१२

मूल्य : दो रुपया आठ आना

मुद्रक

क्रॉनिकल प्रेस

मोरीगेट, दिल्ली–६

दो शब्द

इधर जिन कुछ नये सज्जनों के सम्पर्क मे आने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है उनमे इस पुस्तक के लेखक श्री राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंहजी का सम्पर्क मै अपने लिए विशेष सौभाग्य की बात मानता हूँ, एक उच्च शिक्षित और सम्मानित कुल के अनेक सद्गुण उनमे है। आभिजात्य के अनुरूप शिष्टता के साथ आस्तिकता की ऐसी मिष्टता आजकल विरल ही है। उनकी विश्वासपरायणता की सरलता और भी उदार।

भावुकजन अपनी भावना मे ही अपने प्रभु की समीपता का अनुभव करके यथाबुद्धि उनसे आत्मनिवेदन अथवा आलाप कर सकते है। जैसा नल के विषय मे श्री हर्ष ने लिखा है--

भावनाबलविलोकितविष्णौ
प्रीतिभक्तिसदृशानि चरिष्णुः

भगवान हमारी भावना ही देखते है। भक्तों के लिए यही यथेष्ट है। कविता उनके लिए साध्य नही साधन मात्र है। परन्तु भावुकों के हार्दिक उद्गारों के समान सुन्दर विहारस्थल कवित्व को भी कहाँ सुलभ है? आशा है, 'राधा-कृष्ण' के पाठक मेरी इस बात से सहमत होंगे।

मैथिलीशरण

समर्पण

भक्तिभाव के बीज हृदय में
डाले और उगाये,
पिता ! आपने ही भव-भय के
मेरे ताप घटाये !
लिख डाले उद्‌गार हृदय के
जैसे भी वे आये,
स्वीकृत करें पाद-पद्मों में
जो ये फूल चढ़ाये !

—राजेश्वर

राधा

श्यामांचल में सूर्य्य-रश्मियाँ
जाकर हुईं विलीन,
सद्यःस्नाता, मुक्तकुंतला,
प्रेम-भाव में लीन—
हाथों में कंकण कुसुमों के,
मुख ताम्बूल-सुवास,
नई बधू-सी, ठहर-ठहर जो,
आती पति के पास—

किया प्रवेश निशा ने आकर,
सलज–पोड़शी–रूप,
मन्त्र-मुग्ध-सा व्योम मौन था,
लखकर रूप अनूप !
स्वस्थ हो उठी अलस कुमुदिनी
जग मुँह खोल जँभाती,
लौटी गोमण्डली विचर-चर
बच्चे देख रँभाती ।
शान्त नदी के तट पर कुररी,
करुण स्वरों में गाती,
धीरे-धीरे बन्द पँखुड़ियाँ
नलिनी करती जाती।
बैठी द्वार-देहरी राधा,
कुछ अनमनी बनी-सी,
शरदुत्फुल्लमल्लिका-जैसी,
अति लावण्य-धनी-सी,

हरिणी-सी आँखें थीं चंचल,
भाव-भार से भारी,
नेत्रों से ही कहती मानो
हृदय कथा सुकुमारी।

बाहु-पाश में आम्र-विटपि के,
लता माधवी सोती,
पत्तों पर पावस की बूँदें,
चमक उठीं, ज्यों मोती।

चुपके-से समीर ने आकर,
मुख चूमा जूही का,
आँखें खोल किया आलिंगन,
परम मनोरथ जी का!

अलसाया-सा, मन्थर-गति से
सौरभ लेकर आया,
और राधिका के चरणों पर,
मानो उसे चढ़ाया।

केश-पाश में बँधे हुए थे,
कुरबक, परम मनोहर,
कर्णिकार थे कर्णफूल में
डोल रहे, अति सुन्दर।

मलय पवन सुस्पर्श-मात्र से,
तन में सिहरन पायी,
रोमांचित हो उठी राधिका,
दुःख-घटा घिर आयी।

फूट पड़ा सहसा दृगम्बु तब,
भाव-नदी जब फूटी,
जाने नहीं आपसे ही क्यों,
ग्रन्थि हार की छूटी!

इतने में ही बकुल वृक्ष से,
पिक प्रमत्त ने गाया,
पर मन के उपवन में फिर भी,
था पतझड़ ही छाया!

उमड़-घुमड़कर, विरह-भाव के,
घन आये नव, बरसे,

रोक न सकी आँसुओं को वह,
निकल पड़े वे घर से ।

नव जलधार व्योम से वारिद,
गरज-गरज देते जब,

तोड़ परिधि को वर्षाऋतु में,
सरिता चल देती तब ।

पोंछ नेत्र अंचल-पट से वह
सँभल सखी से बोली—

देख सखी आया विहंग यह
करने निठुर ठठोली !

श्याम रंग का ही गुण ऐसा,
निष्ठुरता का घर है,

सूखे फूलों का सखि, देता
साथ न कभी भ्रमर है ।

जान इसे भी पर हा ! मैं तो,
श्याम रंग की भूखी,
लगती हैं अब मुझे जगत की
सभी वस्तुएँ रूखी !

होती प्रेमोन्माद - सृष्टि है,
झट विवेक चल देता,
ऐसी स्थिति में मनुज किसी का,
परामर्श कब लेता ?

अनुचित-उचित भाव तज देता,
यदपि स्वबल का ज्ञाता,
होता है उड्डीन विहग जब,
व्योम-निमंत्रण पाता !

लगा रखी मैंने तो उस पर
इन प्राणों की बाजी,
उसी रोज जिस दिन गोकुल में,
प्रथम बाँसुरी बाजी !

मैं ही प्रथम मिली थी उनसे,
वह न पास थे आये,
जोर-जोर से कर्णफूल थे
डुलते, कहीं भुलाये।
भूली कहीं पाँव की पैजनि
काँटे कहीं चुभाये,
श्रम की बूँदों से अँग भींगा,
भिंग कुन्तल बिखराये।
उफ़ ! कैसा आह्वान भरा था,
उसके मादक स्वर में,
लोक-लाज औ' आर्य्य-पंथ यह
डूबे उसी लहर में !
जीवन-पारावार-कूल पर,
त्याग गये जिस सुर को,
वही आज भी पागल करता,
आकुल मेरे उर को।

आती हैं सुस्मृतियाँ मन में,
बीते हुए दिनों की,
विगत-विभव-सी, विगत-प्रणय की,
टूटे हुए प्रणों की।
नीचे यमुना का श्यामल जल,
ऊपर वारिद काले,
हूक भरे-से, कूक रहे थे,
पिक, मयूर, मतवाले।
लगी होड़-सी थी विहगों में,
नृत्य और गाने की,
धूम मची थी व्रज में मानो,
पावस के आने की।
ठहर-ठहरकर मेघ गरजते,
वक की पंक्ति उड़ी थी,
किसी नील विस्तृत वितान में,
विहगावली जुड़ी थी।

पवन थपकियाँ दे-देकर के,
कालिन्दी के जल को,
जगा रहा था धीरे-धीरे,
उनके अन्तस्तल को।
अँगड़ाई ले-लेकर होतीं,
सजग सुकलियाँ सुप्ता,
रवि-किरणे घन के अंचल से,
क्रमश. हुईं विलुप्ता।
सघन हुआ वारिद क्रम-क्रम से,
भरे हुए घट जल के,
झुक-झुककर छूता मानो वह,
कालिन्दी की अलकें।
मैं बह चली धार पर ध्वनि की,
वेणु-नाद की, बेबस,
हाय, कौन समझे कितना था,
भरा हुआ उसमें रस !

छलने की बातें कीं कितनी,
कितना प्रेम दिखाया,
हाव -भाव के मकड़जाल में,
मुझको पकड़ फँसाया ।
घर के लोग ढूँढ़ते मुझको,
मैं उनमें भूली थी,
तनिक न सोचा, पहना जिसको,
हार नहीं, शूली थी !
वारी वयस, नहीं अनुभव था,
तनिक मुझे इस जग का,
घोर सत्य का, ज्ञान नहीं था,
कंटकमय इस मग का ।
शरन्मेघ से निकल चन्द्रिका,
भव-भूतल पर आती,
रूप मुग्ध करके चकोर को,
ज्ञान-विहीन बनाती,

विहग सोचता—जीवन में फिर,
विलग न इससे हूँगा,
स्वेच्छा से, जी भर, जीवन भर,
अधरामृत पीऊंगा ।

किन्तु विमूढ़ बनाकर उसको,
चल देती वह, हँसकर,
प्राणोत्सर्ग करे वह कितना,
नहीं ठहरती क्षण भर ।

निष्ठुरता ही मानो जग का
सबसे बड़ा नियम है,
कोमलता, करुणा, सहृदयता,
इन्हें ढूँढ़ना भ्रम है ।

उन्हें राज्य-पद ही लेना था,
तो क्यों मुझे बुलाया,
क्यों बालापन में ही मुझसे,
आर्य्य-पंथ छुड़वाया ?

बालापन में त्याग गये वह,
अब आई तरुणाई,
रही प्रतीक्षा-लीन रैन-दिन,
पर आये न कन्हाई !

व्यर्थ जगी यह प्रीति हृदय की—
निर्झर गिरि-गह्वर का,
अलि-विहीन वन में क्यों फूटा,
व्यर्थ कुसुम, क्यों महँका ?

पंख-विहीन हुआ मनसिज-द्विज
हतविधि, जीवन-वन का,
है अशक्त, हतप्रभ, शोकाकुल,
खोकर संग प्रवह का ।

हाँ, अब तो सखि, भार हुआ यह,
दुर्वह, असह, विरह का !
भोग रही फल हाय ! न जानूँ
किस निर्मम-हृद् ग्रह का !

उद्धव आये, कहीं ज्ञान की,
बातें विविध प्रकार—
परमात्मा ही नित्य, सत्य, यह
क्षण-भंगुर संसार !

कही कथाएँ ऐसी कितनी,
किये प्रयत्न अनेक,
पर ढ़ोते वह विरह-भार तो,
तजते स्वयं विवेक !

शुष्क ज्ञान की पोथी लेकर,
आये थे समझाने,
आत्म-ज्ञान की गुण-गाथाएँ,
आये थे वह गाने ।

क्यों न पपीहे को जाकर वह,
भगवत्-तत्व बुझाते,
गुण-गरिमा गा गंगा-जल से,
उसकी तृषा मिटाते ?

क्यों न दिखाते जा चकोर को,
ज्ञान-दीपिका अपनी,
क्यों न दिखाकर उसे फँसाते,
मृग-मरीचिका अपनी ?
क्या मूर्खा थी मैं ही सबसे,
उनके अवलोकन में,
योग चले सिखलाने जिसके
प्यार भरा कण-कण में !
मस्तक और हृदय में चलते,
संघर्षण जिस काल,
सदा हृदय ही विजयी होता,
काट तर्क की ढाल ।
है शाश्वत संसार-नियम यह,
हैं इतिहास बताते,
उद्धव-से ज्ञानी पंडित हा !
समझ नहीं क्यों पाते ?

अपढ़, अबोध, तर्क-हीना हम,
ब्रज की रहने वाली,
ग्वाल-वंश की ही दुहिताएँ,
नहीं नागरी आली ।
क्या कसूर यदि प्रिय-वियोग में,
त्याग लोक-लज्जा को,
वन-वन विचर-विचर रोती हैं
त्याग रात्रि-शय्या को।
रघुकुलतिलक राम को जग में
कौन कहेंगे पागल !
किया जिन्होंने क्रन्दन वन-वन
विरह अनल में जल-जल !
किया जिन्होंने मुग्ध, लीन हो,
उसका रस-आस्वादन,
वही जान सकते, क्यों भाता,
हमें यही पागलपन ।

फिर हमने ही तो वियोग में
तजा न खाना-पीना,
हुआ न हम सबका ही केवल,
भार-रूप यह जीना ।
क्यों कदम्ब के फूल फूल कर
सत्वर मुरझाते हैं,
करुणा से क्यों ओत-प्रोत यह,
गाने पिक गाते हैं ?
क्यों न नृत्य करते मयूर अब,
चातक गान न गाते,
निम्ब, अम्ब लगते उदास-से,
मौर न उन पर आते ।
गरुएँ गोचर से आती हैं,
लौट सदा भूखी-सी,
शस्य श्यामला भूमि हमारी,
लगती क्यों सूखी-सी ?

क्षार समान हुआ क्यों जल यह,
कहाँ माधुरी भागी ?
व्रज-मंडल सौन्दर्य्य-वेश तज
मानो हुआ विरागी !
हृदय-सारिका भला ज्ञान से,
शांत कभी भी होगी,
विरह-ताप को शांत करेंगे,
ज्ञानी, पंडित, योगी ?
ज्ञान उन्हें दे सकतीं हम भी,
बड़ी-बड़ी बातों से,
पर अन्तर का अविरत क्रन्दन,
मिटा न इन घातों से ।
वातावरण प्रभाव श्रेष्ठ है,
कथा नहीं निर्मूल,
होते जग के रंग-ढंग हैं,
उसके ही अनुकूल ।

हम तो गोप-वंश में जन्मी,
चालढाल ग्रामीणा,
किन्तु आज की सहचरियाँ हैं,
उनकी परम प्रवीणा।
हुए द्वारिकाधीश जहाँ के,
गृह मणियों से जगमग,
भूमिभाग पर यदाकदा ही,
पड़ते अम्बुज-से पग।
विजन डुलाती होंगी कर से,
सुमुखी, राजसुतायें,
और सुनाती होंगी उनको,
अपनी प्रेम-कथायें।
भली लगेंगी उनको कैसे,
अब मेरी सेवायें,
तुष्टि-प्रदान करेंगी कैसे,
निपट ग्राम-बालायें ?

धूल-धूसरित होकर वन में,
गउएँ घूम चराना,
या कदम्ब की डाल बैठकर,
वंशी विहँस बजाना—
वंशी, जिसकी कूक करारी,
गहरी गमक-भरी थी,
सुनती थी मैं मंत्र-मुग्ध-सी,
हिय को पकड़ खड़ी थी !
कौन वीर थी ऐसी जिसने,
उसका राग सुना हो,
विह्वलता के प्रस्तर पर जा,
अपना सिर न धुना हो !
लोक-लाज तज पागल की सी,
नहीं दौड़ कर आयी,
ज्ञान, विवेक, रीति निज कुल की,
जिसने नहीं गँवायी ।

पर ये तो अब स्वप्न-मात्र हैं,
हैं प्रलाप ही केवल,
धो न सका सुस्मृति को अब तक,
मेरी आँखों का जल !

बुझे हुए हैं दीप हमारे,
तिमिरावृत है रात,
पर ज्योतिर्मय हुई द्वारिका,
मानो स्वर्ण प्रभात !

अट्टहास की गूँज वहाँ है,
वैभव करती क्रीड़ा,
यहाँ शोक, संताप, दाह ही,
और विरह की पीड़ा !

हो उपेक्षिता क्यों न बड़ों से,
रूप-गंध रस-हीना,
पर आहों से प्रलय मचाती,
वही विश्व में दीना ।

माना, कोमल हृदय हमारा,
हम अबला कहलातीं,
शक्तिरूप में ज्वालाएँ भी,
किन्तु हमीं बरसातीं।
भस्मीभूत एक चिनगारी,
कर सकती नगरी को,
शुष्क बनाती शस्य श्यामला,
मृतवत् हरी-भरी को।
किन्तु चढ़ाया जिस पर मैंने,
जीवन का यह फूल,
उनसे रोष करूँ भी कैसे,
बन चरणों की धूल?
यद्यपि टुकड़े हुए हृदय के,
जुटा वही सकते हैं,
धधक रही अन्तस् की ज्वाला,
मिटा वही सकते हैं।

स्वाति-विन्दु हैं वही, वही, बस,
प्यासे मुझ-चातक के,
वही चन्द्रमा मुझ-चकोर के,
दिनमणि जल-जातक के।

× × ×

वही जीवनाधार,
जीवन की लघु तरणी के वह,
सखि, मेरे पतवार।
हुई हँसाई जग में कितनी,
व्यंगों की बौछार,
पर उनके चितवन ही मुझको,
लेते सदा उबार।
आज हुई डगमग यह नौका,
धुँधला कूल-किनार,
जाऊँ किसके पास कहो सखि,
किसकी करूँ पुकार ?

मधुमय उस चितवन की सुस्मृति
में अब भी लुटती हूँ।
लाख रोकती निज को, वर्बस,
सिसक-सिसक उठती हूँ।

संध्या के ढलते प्रकाश में,
मैंने कितनी वार,
कहा—तनिक सन्देश लिये जा,
ओ सनसनी बयार !

उन तक हुई राधिका प्रणता,
जिन पावन चरणों की,
कहना, भूल गये सुध लेना,
वह भी आत्म-जनों की !

× × ×

हतविध, रहीं अधूरी
चिर-अभिलाषाएँ युग-युग की,
होंगी हाय, न पूरी ?

जिसके चारों ओर घूमतीं,
वह व्रजांगना–धूरी,
कहियो खोकर उसे आज हम,
होतीं सभी अमूरी !
व्योम-मार्ग के पथिक निराले,
काले उन जैसे ही ।
पूर्वस्मृति जागृत करते-से,
आये घन, वैसे ही––
मैंने निज संदेश सुनाये,
कहा, प्रेमघन, जाओ;
पादपद्म में उनके रखकर,
गरज-गरज बरसाओ।
कहा––कुहुकिनी कोयल प्यारी,
तू है सखी पुरानी,
तुझे शपथ है, उन्हें सुना जा,
मेरी करुण कहानी ।

अन्तरिक्ष से जाते थे दो,
सुन्दरता की खान,
राजहंस वे, नृप-दम्पति-से,
भरे हुए अभिमान—
हाथ जोड़कर उनको मैंने,
अपनी व्यथा सुनायी,
देने को सन्देश दूर तक,
उनके पीछे धायी ।
ये छोटी गौरैयाँ घर की,
जातीं सभी नगर में,
कभी विचरतीं गृह-प्रांगण में,
घर में, कभी डगर में ।
इनसे भी मैंने भेजी थीं,
अपने मन की बातें,
बाट जोहते काटीं मैंने,
कितनी ही दिन-रातें ।

अकस्मात उड़ कर आया था,
घर पर एक कपोत,
जिसे देख कर सहसा फूटे
आँखों से दो स्रोत ।

दाने उसे चुँगाये मैंने,
पकड़ लगाया उर से,
सिक्त किये अपनी आँखों को,
मानो उनके पर से ।

लिख कर मैंने प्रेम-पत्र फिर,
बाँधे लघु ग्रीवा में,
भेजीं अपनी मर्म व्यथाएँ,
लिख, उनकी सेवा में ।

उठा, और फिर नील गगन में
हुआ विहग उड्डीन,
कुछी क्षणों में, प्रेम-पत्र ले,
व्योम-गर्भ में लीन ।

करती रही प्रतीक्षा उसकी,
पर न लौट कर आया,
स्वर्ण-पुरी में जाकर वह भी,
हाय, कहीं विरमाया !
जात पथिक अनेक पूर्व में,
व्रज के इस प्रान्तर से,
जिन्हें देखकर व्रज-बालाएँ,
निकल-निकल निज घर से–
देतीं बहु सन्देश उन्हें फिर,
हाथ जोड़ कर कहतीं,
कहियो व्रजनन्दन से अब तो,
जीती भी हम मरतीं !
सुन कारुण्य-पूर्ण ये बातें,
भर आँखों में पानी,
ढाढ़स हमें बँधाते कहकर,
तरह-तरह की वाणी ।

पर ढाढ़स तो सँग हमारा,
कब से छोड़ चुकी है,
उमड़ी हुई वेदना उर की,
किससे छिपी, रुकी है।

विधि ने लिखा भाग्य में मेरे
विरह ताप में तपना,
बैठ देखना द्वार - देहरी,
विगत दिनों का सपना।

विगत-यौवना प्रौढ़ाएँ ज्यों,
पूर्वस्मृति पर जीतीं,
सुख के बीते हुए क्षणों को,
मानो बैठी सीतीं।

महारास की रात अनोखी,
भूल भला सकती है,
उसकी चर्चा, रस-प्रसंग में,
गिरा नहीं थकती है।

कैसी थी वह रात, हाय, वे,
क्षण कैसे थे सुख के !
पोंछे थे जब निज हाथों से,
श्रम-कण मेरे मुख के !
देह-भावना रही न तिल भर,
मुक्तजनों के जैसे,
जिधर देखती उधर वही थे,
निज स्वरूप भी वैसे !
उनके ही स्वरूप में निज को,
देखा बारम्बार,
बर्हापीड़, कान के कुंडल,
वे ही सब शृंगार ।
पड़ी आत्म-विस्मृति में फिर तो,
लगी बजाने वेणु,
(जिसे श्रवण कर दौड़ा करतीं,
तरु कदम्ब को धेनु)

कितने दिन, कितनी ही रातें,
बीतीं इसी प्रकार,

स्वः-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त था,
जो सुख का भांडार !

उफ़ ! कैसा मधु का वर्षण था,
रस-समुद्र में डूबी,

लेती बारम्बार डुबकियाँ,
पर न तनिक भी ऊबी।

कहती मन-ही-मन, हे भगवन् !
हो न निशा का अन्त,

मिलन हमारा मृदुल, सरस हो,
सुख से भरा, अनन्त !

अहे निशाकर ? डूब न जाना,
छल न कीजियो द्विजवर,

हो अजस्र-सा सुधा-स्रोत यह,
रुके न किंचित, क्षणभर।

सब से यही माँगती वर है,
हाथ जोड़, व्रजबाला--
मुक्तद्वार हो महारास की
यह शाश्वत मधुशाला !

गूँज उठी जब वाद्य यन्त्र की,
पायल की झनकार,
नाच उठी मानो धरती ही,
फैल उठी ध्वनि-धार ।

रख न सकी फिर बाह्य ज्ञान को,
कोई सखी सजीली,
खुली न किसकी वेणी, किसकी
नहीं करधनी ढ़ीली ।

वेणु-रन्ध्र से निकली थी वह
कैसी कूक करारी,
उसकी परम साक्षिणी है यह
हिय की हूक हमारी ।

जिसको याद आज भी करती
हृतंत्री को झंकृत,
हृदय-पटल पर महारास के
चित्र अभी भी अंकित !

धो न सकेगा प्रलय काल तक
उनको नयनों का जल,
जन्म-जन्म में नये बनेंगे
अमरपुरी के ये फल ।

हाय, शेष अब सुस्मृति ही तो
मेरे पास रही है,
मानस-शुक परदेश गया उड़,
लगती शून्य मही है ।

आते हैं वसन्त अब भी तो
नव पल्लव द्रुमदल में,
खिलते फूल अभी भी तरु पर,
कमल, कमलिनी, जल में।

भौंरे मँड़राते उन पर हैं,
कोयल भी गाती है,
पर न उछाह हृदय में वह अब
पहले-सी लाती है।

आता था वसन्त जब व्रज में,
दिन सँयोग के थे जब,
धूमधाम-सी मच जाती थी
व्रज के गाँवों में तब।

दुन्दुभि बजा ठाठ से आता
वन-वन में ऋतुराज,
करतीं हम स्वागत कुंकुम ले
अपने तन मन साज।

उच्चकंठ से पिकी प्रमत्ता
करती मंगल-गान,
थी उमंग की नहीं इयत्ता,
मतवाले मन-प्राण—

पशु, पक्षी, मानव के मिलकर
करते उद्धत नृत्य,
नाच-नाच कर कहते मानो
सुख के अपने वृत्त !
थे करील, कचनार सुपुष्पित,
औ' पलास के तरुवर,
बकुल, तमाल, सुअम्ब, निम्ब, द्रुम
शोभित जिन पर मधुकर।
जिधर देखती लाल-लाल ही
लखता वन-उपवन था,
हृदय-बीच थे लाल हमारे,
सुस्पन्दित रजकण था ।
कहीं कपोत कपोती के सँग,
कहीं मोरनी मोर,
कहीं चकोर, सारिकाएँ-शुक,
होते प्रेम-विभोर ।

कभी नाचते, कभी कूकते,
छूते चोंच परस्पर,
स्वयं जाल में जाकर फँसते,
बिंधते रतिपति के शर।
कालिन्दी की रूपराशि में
होती अतिशय वृद्धि,
मृदु मराल के स्वर, नीरज से
बढ़ती विपुल समृद्धि।
जल से जा टकराती ज्यों ही,
पिक प्रवीण की कूक,
सिहर-सिहर-सी उठती सरिता,
रहती यद्यपि मूक।
शैल शिखर से उषा विहँस कर,
इंगित कर वसुधा को,
प्रातवात के हाथ पठाती
भर-भर कलश, सुधा को—

तो जागृत कर मृदुल गुदगुदी,
अलस-भरे प्राणों में,
सुप्त वारि-तनया के कहतीं
हम जा कर कानों में--

× × ×

जाग, कमलिनी, जाग !
इन अलसित नयनों की अपने,
दे अब तन्द्रा त्याग।
आये तुझे जगाने भौंरे,
गूँजा सकल तड़ाग,
आलिंगन कर, इन्हें पिला दे
अपना प्रेम-पराग ।
देख, पूर्व नभ के कोने से,
आया उड़ कर काग,
आते उसी दिशा से प्रियतम,--
जगा तुम्हारा भाग,--

रंग-गुलाल उड़ा हिमगिरि से,
अरी, खेलने फाग,
मिलनातुर अपने इस तन में,
लगा, लगा, अँगराग।

गाता सजग प्रभाती खगकुल,
भाँति-भाँति के राग,
जगता जिससे राग कहीं पर,
जगता कहीं विराग!

ओहो, कालिन्दी के जल में,
लगी कौन-सी आग,
किसका जला रहा, सरिते, यह
विरह-भरा अनुराग?

तरणि-तनूजा के तट पर वह,
मृदु बाँसुरी बजाते,
और भ्रमर-सा निज गुंजन से
प्रतिक्षण हमें रिझाते।

आम्र-मञ्जरी-मदिरा का हम
करती घ्राण वनों में,
एक नई सुस्फूर्ति उपजती
मन में और तनों में।
गाती हुई सँग सखियों के,
थी वन-बीच विचरती,
यदपि श्रेष्ठ जन वारण करते,
पर मैं कान न धरती।
कभी पाँव पर पडती उनके,
कभी मान भी करती,
जभी रूठती, अन्तम् में पर,
सदा ध्यान ही धरती।
मन का भाव हुआ कुछ ऐसा,
घर उजाड़-सा लगता,
हृदय-कीर उनसे मिलने को,
अर्द्धरात्रि मे जगता।

हाय ! हूक-सी उठती उर में
आज याद से उनकी,
रही कहानी-मात्र फाग की,
सखि, उस चीर-हरण की।
अच्छा था आती न याद फिर
मुझे कभी होली की,
रंग-गुलाल लगे निज तन की
उनके मुख-रोली की।
ठठ्ठाओं की, मुख-मर्दन की,
रंग-भरी झोली की,
भींगे हुए वस्त्र, भूषण की,
कसीगँसी चोली की।
उड़ते रंग-अबीर व्योम को
अनुरंजित करते थे,
सुरबाला के मुक्त केश को
सुस्पर्शित करते थे।

चार दिनों की चन्द्र छटा थी,
विगत हुआ मधुमास,
पाप-ताप से जलता मानव
जलता त्यों आकाश !
वन-उपवन में विचर-विचर कर,
पी-पी कर मधु, आप्त,
ऊँघ रहा खलिहान-बीच था,
प्रौढ़-अवस्था-प्राप्त--
ऋतु वसन्त, औ' देख रहा था
पूर्वस्मृति के चित्र,
और सोचता--कहाँ गये वे
मेरे सारे मित्र !
मधुपों का दल, गुंजन उनका,
अठखेली कलियों की,
भर देती चितवन से अपने
जो झोली अलियों की ।

भरे हुए प्याले बौरों के,
चिर-संगी अधरों के,
उभड़े हुए उरोज धरा के,
सौरभ, भरे-घड़ों के।
चिह्न प्रकट वसुधा के तन पर,
हुआ विगत यौवन का,
प्रसव-प्रतीक्षा-लीन हुई वह,
पीत वर्ण था तन का।
बहने लगा पवन जोरों में,
और उड़ाने धूल,
गिरने लगे रूप-रस खोकर,
हा! झड़-झड़ कर फूल।
जल भर आया इन नयनों में,
प्रात वात जब आया,
सखी! याद है उपालम्भ जो,
हमने उसे सुनाया —

ओ वैशाखी वात !
कहा कान में क्या मधुपों के,
रची कौन-सी घात !
वनजारों-से निकल चले वे
बीती ज्यों ही रात,
सूना-सूना-सा लगता है,
धरणी का यह गात !
विरह-ताप से हुए पीत-से,
जर्जर-से, तृण, पात,
वृन्तहीन-सा जल कर जल पर,
गिरे हाय, जल-जात ।
वसुधा के तन का यह चन्दन,
धूल हुआ विख्यात,
उड़ा-उड़ा कर जिसे व्योम तक,
पहुँचाता संघात ।
ओ वैशाखी वात !

ग्रीष्मकाल की दोपहरी में,
कालिन्दी के कूल,
जब असह्य हो उठते तन पर,
श्रम से सभी दुकूल।
सघन कुंज की छाया में मैं,
करती शयन अभीत,
या कि मधुर मुरली का सुनती,
मैं शोभन संगीत।
कभी स्वयं ही लेट जानु पर,
उनके गाती गीत,
उत्पीड़ित करता रह-रह कर,
उर को आज अतीत।
कभी मूँदकर पलक बहाना
करती मैं सोने का,
कभी स्वप्न-भय-भीत-भाव से
अकस्मात रोने का।

रख अपना कर-कंज माथ पर
अभय मुझे वे करते,
ग्रीष्म-ताप को तरु-छाया ज्यों
कर-पल्लव से हरते ।

प्रेम-विभोर, स्रोत पर सुख के
मैं बहती-सी रहती,
कभी खोल कर आँखें अपनी,
स्वप्न-कथाएँ कहती ।

कहती—देखा स्वप्न, आप थे
और किसी के संग,
लीलाओं में लीन, काटता
मुझको यहाँ भुजंग ।

मैं रोती थी, किन्तु आपको
मेरी क्या परवाह ?
समझ न पाये पुरुष आज तक,
नारी का उर-दाह ।

हलकी-सी गालों पर देकर
चोट बोलते तब वह,
मन की मेरी ग्रन्थि आप ही–
आप खोलते तब वह,––

'तुमने क्यों विश्वास किया यह
बोलो, बोलो, बोलो,
छिपे हुए हों भाव हृदय के,
खोलो, खोलो, खोलो।

प्यार-प्रतीक न बदले जाते
रोज-रोज हैं, जानो,
प्रेम-पात्र को मनुज न लाते
खोज-खोज हैं, मानो।

यह तो स्वयं उपजता उर में,
एक बार जीवन में,
रति से पा सुपुष्टि, पाता है,
नित प्रसार ही मन में।

नहीं शुष्कता पाता है यह,
विरह-भार भी ढोता,
हुआ आज तक मलिन भला क्या
शुद्ध प्यार का सोता ?

हैं असत्य ही शंकायें ये,
तेरे मन की भारी,
स्वयं अमरबालाएँ तुझ से,
अधिक न होंगी प्यारी।'

स्वाति-बूँद-से शब्द लगे ये
चातक-के-से उर में,
पुनः हुई आनन्द-मग्न मैं,
पी वियुग इस स्वर में।

भुजापाश में लिया उन्होंने
कर मस्तक पर फेरे।
हंत ! हंत ! हा हंत ! गये वे
कहाँ आज दिन मेरे ?

ग्रीष्मकाल के विगत हुए दिन,
दिन पावस के आये,
आते ही आषाढ़, व्योम में
घने घने घन छाये।
लगीं झूलने तरु कदम्ब में
लगा-लगा हम झूला,
पावस का सौन्दर्य्य-चित्र में
मन रहता था भूला।
ऊँचे सुर में, हृदय खोल कर
हम मलार थीं गातीं,
उधर गरजते मेघ, इधर हम
उनसे होड़ लगातीं।

× × ×

गातीं मिलजुल गीत—
शिखिनि, बता, घनश्याम छिपे हैं
कहाँ जगा कर प्रीत ?

प्रणय-भाव के नव-नव अंकुर
रटते उनका नाम,

द्वार-कपाट खोल कर अपने
हेरें पथ अविराम ।

छिपे श्यामघन में जाकर क्या
मेरे भी घनश्याम,

अरी, नहीं बिजली, यह तो है
कटि-किंकणी ललाम।

देख, देख, अलकें फहराता
उनकी मृदु पवमान,

सौ-सौ वार निछावर उन पर
होता जीवन - प्राण ।

जा तू उन्हें बुला ला सजनी !
जा, जा, जा, अविलम्ब,

बाट जोहते कब से उनकी
खिल-खिल मृदुल कदम्ब !

पुलक उठीं ये बाहें मेरी,
मिलनातुरा हुईं अब,
री व्रजवासिनि ! आयेंगे कह,
मेरे जीवनधन कब ?
विकल हो रही मैं सुनने को
मुरली का संगीत,
शिखिनि, बता, घनश्याम छिपे हैं,
कहाँ जगा कर प्रीत ?

× × ×

सखि, यह प्रीत अनूठी,
जिसे छोड़ कर सभी वस्तुएँ
लगतीं जग की झूठी ।
रोम-रोम में श्याम समाये
पर ऊपर से रूठी,
लेती चरण-बलैया उनकी
पग की हुई अँगूठी ।
सखि, यह प्रीत अनूठी ।

अहो श्यामघन, आओ ।
विरह-ताप से जलती धरणी,
आकर ताप मिटाओ ।
नव-नव पल्लव नव भावों के
नव रस-धार बहाओ,
वसुधा की सूखी अलकों को
फिर से सरस बनाओ ।
आँखों में मधु, रस अधरों में,
नव नव ओज बहाओ,
नये-नये स्वर में गरजो, जल
गरज-गरज बरसाओ ।
गाओ गीत मिलन के यमुने,
ओ तरु, गुल्म, लताओ !
पावस की मधुमय बूँदों से
अपनी प्यास बुझाओ ।

नव प्रस्फुटित सुमन ले-लेकर
सुन्दर हार सजाओ,
धरा सुन्दरी के जूड़े में
हँस-हँस उन्हें पिन्हाओ ।
जगा भाग्य उर्वी का, नव-घन !
जीवन-ज्योति जगाओ,
अहो श्यामघन, आओ ।

× × ×

शिखी और शिखिनी दोनों ने
जब से देखा घन को,
रख न सकीं वश में वे मन को,
चित्रित अपने तन को ।
कभी कूकते, कभी नाचते,
टुक विश्राम न लेते,
लवा, कपोत, कुरंग, भृंग, शुक,
संग मोर के देते ।

थी उछाह की बाढ़ चतुर्दिक
आयी व्रजमंडल में,
वृक्ष-वृक्ष में, जनगण मन में,
कालिन्दी के जल में।
चतुर्मास वर्षा के बीते,
मानो तीन दिनों में,
देखे गये बीतते युग हैं
सुख के चार क्षणों में।

अन्तिम बूँदों से धरणी के
पाद-पद्म को धोकर,
माँगी नील गगन से घन ने,
अन्त-विदा रो-रो कर।
वारिद से धुल कर अति सुन्दर
शारदीय आकाश,
हुआ विमलतर, ज्यों तपने से
बढ़ता स्वर्ण-प्रकाश।

जाने कहाँ-कहाँ से आयी
अति छोटी पाँखों की,
छोटी-सी चिड़िया—यह खंजन,
सुस्मृति उन आँखों की !

गाँव-गाँव में, खेत-खेत में,
डगर-डगर में छायी,
चंचल इतनी, दो घड़ियाँ भी
कहीं न नेक बितायीं।

युवा अवस्था का उफान जब
मिट जाता इस तन में,
क्षीण कान्ति, पर शान्त भाव हैं,
आते तन में, मन में;

प्रौढ़ा कहलाती कुछ दिन में,
किन्तु शेष छवि इन में,
यौवन के चित्रित रहते हैं,
चिह्न अभी तक जिन में !

सपने देखा करती हैं वे
बीते निज यौवन के,

होते हैं सुस्मरण निरन्तर
मधुमय क्षण जीवन के।

शरत्काल में प्राप्त हुई यह
यमुना इसी दशा को,

क्षीणकाय, पर शान्त सलिल था,
मानो धार रही सो!

शोभित थी तरु की डालों पर
भ्रमरावली, कुसुम-दल,

वल्लरियाँ बढ़कर निपतित-सी,
छाया जिन से भू-तल।

चक्रवाक-दम्पति करते थे
नदी-गर्भ में कूजन,

धरा-सुन्दरी के द्वय-नूपुर
बजते मानो रुन-झुन!

सद्यः शय्या से उत्थित ज्यों
मुक्तकुंतला तरुणी,
नवल बधू-सी प्रातकाल में
दीख पड़ी यह धरणी !
जहाँ-तहाँ था जल गड्ढों में
दिक् दिगन्त में छाया,
राजपंथ में, ग्राम-डगर में,
गृह, खलिहान डुबाया—
वह सूखा, निष्पंक दीखती
श्वेत भूमि सर्वत्र,
पुष्ट लटकते तुम्बक यत-तत
डाल झुके निष्पत्र ।
चन्दन लगा, हाथ में तुम्बी
ले तुलसी की माला,
रूप विरागिन का उर्वी ने
मानो निज रच डाला ।

पावस-विरह-वह्नि उर उसके
निशिदिन जलती रहती,
विधि के इस विधान को पर, वह
मूक बनी-सी सहती।

शस्य-क्षेत्र में रस से पूरित
हुए धान के दाने,
लगे विचरने उनके भीतर
विहग, मुदित, मनमाने।

फैली इनकी महँक चतुर्दिक
अति लुभावनी, प्यारी :
पूर्ण-यौवना-सी इठलायी
अब धानों की क्यारी।

मलयानिल आता चुपके-से
और चूम कर जाता,
कभी ठहर कर, धीरे-धीरे
इनके केश हिलाता।

इनकी सुन्दरता, सौरभ का
जग में किया प्रचार,
और लगा अब प्रतिदिन आने,
करने नित्य विहार।

हा ! इन खेतों के तट पर ही
तो वह गाय चराते,
बजा-बजा कर वंशी मुझको
अपने पास बुलाते
कभी रूठ कर यदि मैं उनसे,
नहीं वहाँ जाती थी.
तो उनके कर-कंज युगल से
चरण छुआ पाती थी !

नीच-ऊँच के भाव प्रेम में
नहीं कभी आते हैं,
इन्हें माननेवाले प्रेमी
व्यर्थ कहे जात हैं।

प्रेम-पंथ का बाना धारे
वह केवल हैं कामी,
इनसे हमें बचाये रखना,
हे तुम अन्तर्यामी !

शीतकाल का हुआ शीघ्र ही
फिर तो यहाँ प्रवेश,
ताप-हीन होते क्रम-क्रम से
तेजःपुंज दिनेश ।

कात्यायनि-व्रत का हम सबने
किया समुद आरम्भ,
हाय ! उठाये जिसके कारण
नितप्रति उप-आलम्भ।

शुकतारा जब उदित व्योम में
होता क्रमशः भोर,
तज शय्याएँ, झटपट आतीं
हम यमुना की ओर ।

करतीं स्नान, माँगती वर थीं
हम दोनों कर जोड़–
मा करुणामयि, हृदय विराजें,
केवल नन्दकिशोर ।
लिये उन्होंने छल से आकर
हम सब के वे चीर,
आह ! न लाऊँ उन बातों को
उर में, उठती पीर ।
आगे क्या-क्या हुआ, व्यर्थ है
अब यह मन में लाना,
यदि जीना है, तो अच्छा है
इन्हें भूल ही जाना ।
पर उनकी सुस्मृति से होकर
रहूँ विलग भी कैसे,
मत्स्याएँ जल से हो बाहर,
जी न सकेंगी जैसे ।

ज्यों-ज्यों दिन जाते हैं, सुस्मृति
अधिक कान्ति ही पाती,
विरह-ताप में जल-जल कर वह
स्वर्ण-प्रभा बिखराती।
हृदय-पटल पर वे अतीत की।
बातें चित्र-समान—
अंकित हैं मेरे, न मिटेंगी,
ध्रुव, अविचल, अम्लान।
अर्द्धनिशा में नीरव होता
जब सारा संसार,
स्वप्न-जगत में करता मानव
जाकर कहीं विहार।
छोटा-सा, अबोध, शिशु सोता,
निर्भय माँ की गोद,
बैठ नीड़ में विहग ऊँघता,
करता स्वप्न-विनोद।

प्रहरी-सा जागृत कोने में
केवल एक प्रदीप,
जला पंख, निपतित धरती पर
शलभ कुछेक समीप ।

सभी सुप्त, बस एक जागती
मैं शेफाली संग,
और साथ ही उसके रोती,
रोता क्रौंच विहंग ।

निशा-नागरी के वियोग में
रो पड़ता आकाश,
जिसे ओस कहता यह जग है,
वह है अश्रु-विकास ।

पारिजात-सी भूमि-भाग पर
हृदय अश्रु से सींच,
पड़ी सोचती--जीवन में बस
रहा कीच ही कीच ।

प्रेम-पूर्णता का पंकज वह
हुआ न विकसित-प्राण,
सरस अनन्त प्रेम के जल का
पा न सका वह दान !

कमी कौन-सी थी वह मुझ में,
हुआ कौन-सा दोष,
किन अनुचित कर्मों से मैंने
भरे भाग्य के कोष ?

जिससे प्रकटित हुआ विधाता !
तेरा निर्मम रोष,
विरह-ताप नित रक्त वदन का
लेता मेरा शोष ।

सब के होते हैं वियोग पर,
निर्धारित है काल,
चकी और चकवा मिलते जब
होता प्रातःकाल ।

पुनः पद्मजा मिलती रवि से
होता स्वर्ण-प्रभात,
होता चन्द्र-चकोर संग है
होती ज्योंही रात ।
पर मेरी इस विरह-रात का
मिलता ओर न छोर,
मानो विधि ने लिखा मिलन का
मेरे लिए न भोर !
होती है जीवन में सब के
सुबह और फिर शाम,
तमोराशि ले निशि भी आती,
पर फिर प्रात ललाम ।
किन्तु यहाँ काली रजनी ही
छायी हा ! अविराम,
मरघट-सा ही आज, दीखता
ब्रज का हा ! यह धाम !

घन-विषाद से ढँका अहर्निश
रहता हृदयाकाश,
अश्रु-विन्दु गिरते हैं टपटप
नभ से बारह मास।
ग्रीष्म-ताप-सा उठता उर में
जलता सारा गात,
तभी बरस पड़ते ये लोचन,
होती फिर बरसात।

× × ×

बहते इन आँखों से सोते,
दिन पर दिन, औ' वर्ष वर्ष पर
जाते निशिदिन रोते !
विरह-भार जीवन में अपने
असह वेदना ढोते,
तभी समझते मर्म-व्यथा यह,
यदि वह राधा होते !

व्यंग-बाण सहत कानों से
लोचन निद्रा खोते,
नित्य मनोरथ के कुसुमों से
जो वह हार सँयोते,
हाथों में ही मुरझाते वे
व्यर्थ नयन-जल धोते,
उग-उग कर मरते खिल-खिल कर
प्रणय-बीज जो बोते !

× × ×

सखी, पूर्व की वे सुस्मृतियाँ,
बार-बार आती हैं मन में
उनकी लीला-कृतियाँ ।
सुनने को उनकी ही चर्चा
विकल हुईं ये श्रुतियाँ,
नहीं एक, कितनी ही वारूँ
सखि, जिन पर संसृतियाँ !
सखी, पूर्व की वे सुस्मृतियाँ ।

अभी, अभी, देखे मैंने वह
मानस-चित्र अतीत,
तब के, जब तक हुए विधाता
नहीं वाम-विपरीत ।
सघन कुंज की छाया में मैं
बैठी करके मान,
था अभिमान भरा ऊपर में
भीतर आकुल प्राण ।
दिया दूतिका ने आकर के
उनका प्रणय-संदेश,
इच्छा हुई, दौड़कर जाऊँ
धरूँ चरण सविशेष ।
किन्तु रोक कर निज को मैंने
और बढ़ाया मान,
कहा बाँसुरी ही पाती जब
उनसे सब सम्मान ।

करती उनकी अधर-सुधा का
स्वेच्छा से नित पान,
सदा सँग उनके वह रहती
पाती उच्च-स्थान ।
तो उससे ही क्यों न प्रणय का
करती तू प्रस्ताव.
चरण छुयें उसके ही दोनों
व्रजमंडल के राव !
सदा फूल से उसे सजायें
करें विविध शृंगार,
बनी डोलती आठ पहर वह
उनके उर का हार
कहते, उसके ही द्वारा वह
करते भाव-प्रकाश,
उनके गीतों का होता है,
उससे विपुल विकास ।

किन्तु वही छिद्रों में उसके
प्राण फूँक देते हैं,
जाने क्या उसमें जादू के
सदृश कूक देते हैं।
जगती उसकी स्वर लहरी में
ऊब-डूब करती है,
पागल-सा करती जनमन को
सुधबुध ही हरती है।
पर वह तो निर्जीव बाँस थी,
जीवित किया उन्होंने,
गूँज रहे जिसकी वाणी से
आज विश्व के कोने।
यदि मेरी इस साँस-साँस में,
अपनी साँस मिलाते,
रन्ध्रों में मेरे इस उर के
स्वर की सुधा पिलाते—

तो मैं क्या उनकी वंशी बन
जग को नहीं लुभाती,
पागलपन की बाढ़ विश्व में
और अधिक ही लाती !

जगन्मोहिनी शक्ति अलौकिक
संचित जो इसकी है,
अरी, जानती भलीभाँति मैं
वास्तव में किसकी है ।

अहंकार से भरी हुई ही
शुष्क-वंश-तनया यह,
सखी ! खोखली ही भीतर से,
जा, देना उनसे कह ।

जिनकी बात-बात में रहती
मधुर सुधा-सी घोली,
उन तक गयी दूतिका, लौटी
और पुनः यों बोली—

जा संवाद सुनाया उनसे
तेरे प्रत्युत्तर के,
फिर यह कहा उन्होंने मुझसे
आँखों में जल भर के—
पूँछ, बाँसुरी के चरणों पर
कभी हुआ नत मस्तक,
चढ़ी भाल पर चरण-धूल थी
उसकी मेरे भी कब ?
विल्वपत्र खाते वह, चन्दन,
भस्म, लगाते तन पर,
पर मस्तक पर गंगा को ही
धारण करते हैं हर।
सुनकर ये बातें बोली मैं
झड़ते दृग् के मोती,
नत-मस्तक चरणों पर राधा
जा, उनके अब होती।

आ कर किया उन्होंने मेरे
उद्देश्यों को पूरा,
विना मान के प्रणय-चित्र है
रहता सदा अधूरा।
जाने कितनी वार खेल यह
मैं उनसे खेली थी,
सम्मानित थी सभी जनों से,
घर की अलवेली थी।
कहलाती, घर में सब से थी
बड़ी लाड़ली, प्यारी,
कहते सभी, मेंटती मैं ही
इस गृह की अँधियारी।
पर मेरे ही आज भाग्य से
करता खेल विधाता,
कौन बन सका, हाय, विश्व में
विधि-विधान का ज्ञाता।

बैठी थी उस रोज यहीं पर
ताप-दग्ध, उर-भग्ना,
पथ निहारते नेत्र थके-से,
मैं विचार में मग्ना ;
पृष्ठ-भाग से आकर सहसा
दोनों कर आँखों पर—
रखा उन्होंने, स्वामृत मानो
विहगी की पाँखों पर ।
चौंक पड़ी मैं, देखा, उनके
पीत वसन फहराते ।
उनकी श्यामल अलकों को भी
जलधर-से लहराते ।
जब तक उठी, और द्रुतगति से
धायी उनकी ओर,
जाना नहीं, गये किस दिशि को
हा ! मेरे चित-चोर !

अर्द्ध निद्रितावस्था में मैं
एक दिवस थी लेटी,
उषाकाल में पंखुड़ियाँ ज्यों,
रखती जल की बेटी।
सौरभ-लदा पवन चलता था
इठलायी चालों से,
बँधे हुए थे केश, माधवी
की मेरे मालों से।
लगे बोलने विहग एक—दो
तरु कदम्ब डालों से,
लगे मिटाने प्यास भृंग जग,
मधु-पराग-प्यालों से।
अकस्मात आ, निज हाथों से
लगे खोलने वेणी,
सिहर उठी सुस्पर्श-मात्र से
तनु कुंतल की श्रेणी।

धरा चाहती थी मैं ज्योंही
उनके कर-पल्लव को,

और हृदय से पकड़ लगाना
खोये निज वैभव को ।

झपट निकल कर गये न जाने
कहाँ, कौन-सी दिशि को,

गये और वह लेकर मानो
साथ-साथ ही निशि को।

गाता उधर प्रभाती खगकुल,
इधर हाय, मैं रोती,

रही बिखेर पुष्प-शय्या पर
निज आँखों के मोती।

सदा खेलते रहे खेल वह
आँखमिचौनी का ही,

बने रहे वह हाय आज तक
एक समस्या-सा हो !

फिर सोये में चुपके-से ही
हार खींचते थे वह,
विरह-तप्त मन को पयोद-सा
सुजल सींचते थे वह।

चौंक उठी मैं, खड़ी हुई ज्यों,
करने को सुस्पर्श,
हुए तिरोहित सत्वर गति से
हाय, लुप्त कर हर्ष!

बिंध उनके लोचन से तव से
अब भी तड़प रही हूँ,
कहने को जीवित, पर जीवित
सखि, मैं हाय, नहीं हूँ।

नहीं जानती परम कटीली
उनकी वह चितवन है,
हाय! प्रेम की गति वक्री है,
दुख है और मरण है!

मुझे याद है, भूल न सकती
जीवन का वह मधु-क्षण,
किया उन्होंने निज बातों से
जब वश में मेरा मन।
अतसी कुसुम समान रंग पर
स्वर्ण मुकुट सज्जित वह,
देता विद्युत् की छवि घन में,
होता प्रकटित रह रह।
कानों में मकराकृत कुंडल
ऐसे डोल रहे थे,
हों सजीव ही, मानो मुख से
रह-रह बोल रहे थे।
उर-प्रदेश पर पड़ा हुआ था
मणि का हार मनोहर,
अधरों पर मुस्कान बिछी थी
भव की दिव्य धरोहर।

क्षुद्र घंटिका से शोभित वह
कटि-प्रदेश था न्यारा,
अभी, अभी, निःसृत वारिद से
इन्दु-वेश था प्यारा।

देख अकेली, पकड़ हाथ वह
बोले मुझ से आकर,
किया तुझे स्वीकार आज से
साक्षी देख निशाकर !

एक दिवस होकर विमुग्ध मैं
प्रेम-भाव में लीना,
नाच उठी मुरली के स्वर पर
ध्वनि-धारा-तल्लीना ।

रही नाचती वेणु-नाद की
ताल-ताल पर बहु क्षण,
ढुलक पड़ी सिन्दूर माँग की
बिखर भाल पर कण-कण।

हुई आत्म-विस्मृति, न रहा फिर
ज्ञान काल का मेरा,
वक्षस्थल पर हुआ प्रवाहित,
स्वेद भाल का मेरा।

भासित हुआ नाचता मानो,
सकल विश्व था प्रतिपल,
जगन्मोहिनी प्रकृति-पुरुष के
युग्म-नृत्य-सा, विह्वल।

कानों में स्वर्गीय गीत-सा
नाद गूँजता प्यारा,
जिसकी स्वर-धारा में क्षण-क्षण
विश्व भींजता सारा।

आँखें हुईं उनींदी मेरी
दोनों, मधुपायी-सी,
पलकें भारी हुईं, न खुलतीं
अतिशय अलसायी-सी।

देखा, थक कर बाहुपाश में
पड़ी हुई थी उनके,
नील कमल में जड़ी-हुई-सी
प्रात-किरण-सी तन के।

तजा आर्य्य-पथ को यद्यपि, पर
उनके ही कारण से,
सुनीं भर्त्सनाएँ भी मैंने
बार-बार गुरुजन से।

तो भी न्याय-नीति यह कैसी
नहीं समझ में आती,
धू धू कर यह विरह-वह्नि भी
केवल मुझे जलाती।

बिंधी हुई उनके दृग-शर से,
तड़प रही यह राधा,
कुल-कलंकिनी ही कहलाती,
वह न कहाते व्याधा!

हम अबला हैं, इसीलिए तो
आलोचित है सबमें,
भाँति-भाँति के आक्षेपों से
उद्भासित हैं सबसे ।

यदपि मैथिली दुःख-अनल मे
बारंबार जली थीं,
अग्नि-परीक्षा से सुवर्ण-सी
सहज शुद्ध निकली थीं,

तप कर वढा सुतेज और भी
शुभ्र, अलौकिक, उनका;
पर कलंक ही मिला अंत में
निर्वासन जीवन का !

कहलाते आदर्श पुरुष हैं
राम, प्रशंसित होते,
पर सीता के हेतु जगत में
कितने जन हैं रोते

पुरुष-कार्य्य हैं सत्य, लोक में
सदा उचित कहलाते,
पर बन्धनमय कष्ट नारि के
किसके अश्रु बहाते ?
जो कुछ करें, लोकहित की वह
शिक्षा ही कहलाती,
पर, वैसा ही कर, कलंक की
हम टीका लगवातीं !
हाय, सखी उत्तीर्ण प्रेम में
कितनी बार हुई मैं,
विरह-अनल में, हाँ, सोने-सी
जल कर क्षार हुई मैं।
पर न आज तक हुई शेष यह
मेरी प्रेम-परीक्षा,
मिली न मानो मुझे प्रेम की
अब तक समुचित दीक्षा !

किन्तु प्रेम का नव प्रवाह जो
उनने स्वयं बहाया,
जिसके एक-एक स्वर-कण ने
कर दी कंपित काया,

वह न शुष्क हो पायेगा सखि,
समुत्कर्ष ही होगा,
जितने भी जायें न दिवस क्यों,
जनादर्श ही होगा ।

यह इतिहास प्रेम का व्रज के
लिखा सुवर्णाक्षर में,
होगा प्रचलित भू-मंडल में
सभी काल में, घर में ।

औ' माधुर्य्य-भाव भावों में
होगा सब से श्रेष्ठ,
भक्तशिरोमणि किया करेंगे
जिसका पान यथेष्ट ।

कृष्ण-विरह में तड़प-तड़प कर
जो देंगे निज प्राण,
वही विश्व में प्राप्त करेंगे,
गौरव-गिरि-सुस्थान !

उच्च राजमहिषी-पद पाना
स्वर्ण-पुरी में रहना,
मिले और को, प्रिय मुझको है
वन-वन सतत विचरना।

वन की इस मिट्टी-मिट्टी में
शक्ति करेगी क्रीड़ा,
जहाँ तपस्वी और नृपति आ
मेटेंगे भव-पीड़ा !

माना मैंने, विरह-वह्नि में
होती जल कर क्षार,
पर न राधिका के भावों को
जला सके अंगार।

मेरी जगह अनेकों होंगी
राधायें आ-आकर,
मिटा सका है नहीं वंश को
कोई जला-जला कर ।
ढँक न सकेगा सुस्मृति-मणि को
विरहानल, राखों से,
मिटा सका क्या रूप, यत्न कर
मेरी इन आँखों से ?

भौंरों में, नव नील कमल में
खंजरीट में प्यारे,
कृष्णसार मृग के शावक के
चपल डीठ में न्यारे–

प्रतिबिम्बित क्या नयन नहीं हैं
उनके सुन्दर अतिशय,
महारास के समय जिन्होंने
दर्प किया स्मर का क्षय ?

पग-ध्वनि उनकी नहीं सुनाते
क्या मराल के मृदु स्वर,
क्या न कुटिल अलकें दिखलाते,
काले-काले जलधर ?
जहाँ देखती हूँ, पानी में
चित्र-लिखित-सा उनको,
रूप उन्हीं का, स्वर उनका ही,
विश्व-निहित-सा उनको।
पर न हाय, वक्षस्थल से मैं
उन्हें लगा पाती हूँ,
हैं सर्वत्र वही, पर तो भी
दूर भगा पाती हूँ।
लुक-छिप का यह खेल आज तक
मुझसे खेल रहे हैं,
यदपि विरह के कष्ट, प्राण ये
प्रतिपल झेल रहे हैं।

हैं वह निपुण खिलाड़ी, पाना
पार कठिन है भारी,
बँधता उनके नयन-जाल में
जा कर मन संसारी ।

कितने यत्न किये, चाहा था
उन्हें भूल ही जाऊँ,
उन्हें न मेरी सुध लेनी है,
मैं क्यों प्राण गवाऊँ ?

क्यों चकई-सी नदी-गर्भ में
विलप-विलप कर गाऊँ,
क्यों समाज से उपहासित हो
मर्य्यादा धुलवाऊँ !

पर भूलूँ भी कैसे उनको,
कैसे सखी ! हटाऊँ--
इन आँखों की श्यामलता को
कैसे हाय, मिटाऊँ ?

इसमें ही तो छिपा रूप है
अमिट न, धुल सकता है,
व्रज के एक एक पत्ते पर
वह अंकित लखता है।
मोर दिलाते याद उसी की,
चातक उन्हें पुकारें,
यमुना के इस श्यामल जल को
देखें जभी, निहारें,
ये भौंरे हैं बड़े निगोड़े
गुण उनके ही गाते,
जाने क्या गुनगुन करते हैं
विरह-वह्नि सुलगाते।
बजी बाँसुरी, युग बीते पर
इन कानों में अबतक,
उसका ही स्वर गूँज रहा है,
गूँजेगा हा! कबतक?

लाख करूँ संकल्प, किन्तु जब
इसकी ध्वनि सुनती हूँ,
उठती नाच, लोक-लज्जा को
तृण समान गुनती हूँ ।
जाने कौन कुछेक काल को
संज्ञा ही हर लेता,
मानो इस तन की नौका को
निज इच्छा से खेता !
नहीं वेशभूषा, भोजन का,
नहीं लोक, परिजन का.
रह जाता है ध्यान शेष कुछ
जीवन या कि मरण का ।
कहते लोग, हुई पागल-सी,
हँसती, या रोती हूँ ।
नींद कहाँ, रातें जाती हैं,
पर न तनिक सोती हूँ ।

श्याम-रंग का देखूँ कुछ भी,—
कहते लज्जा आती !—
दौड़-दौड़ कर उसे वक्ष से
बारंबार लगाती ।
कभी निहोरे करती उससे,
कभी मान-सी करती,
चरण-धूल-सी कभी उठाकर
रज मस्तक पर धरती ।
कहती—"प्राणनाथ ! अब फिर से
वहाँ न जाने दूँगी,
तेरे चरणों की निशिवासर
सुनो, बलैया लूँगी ।
नहीं एक क्षण को भी तुझसे
मैं अन्यत्र हटूँगी,
फिर अक्रूर यहाँ आये तो
जाकर स्वयं डटूँगी ।

तुम जाओगे चले, और मैं
प्रतिपल नाम रटूँगी,
नहीं, नाथ ! इसके पहले मैं
मरकर स्वयं मिटूँगी ।
मैं रोयी इतने दिन, अब वे
रोयें दग्ध विरह में,
रोक जिन्होंने रखी आपको
प्रणय-पुष्प-संग्रह में ।"
मेरी इन बातों को सुनकर
ग्वाल-बाल थे हँसते,
पर वियोग के शोक-सिन्धु में
कभी आप ही बहते !
प्रकृति-पुरुष के ही सँयोग से
तो इस भव की सृष्टि,
जो कुछ देखे जाते हैं वे
इनकी विपुल समिष्टि ।

तो फिर प्रेमी और प्रेमिका
क्यों होती हैं भिन्न,
क्यों राधा रहती न सँग में
उनके सदा अभिन्न ?

है रहस्यमय, समझ न पाती
विधि की नियम प्रणाली,
कहीं नाचते हैं चकोर, पर
रोती कहीं मराली !

डूब रहा था उस दिन व्रज जब,
परित्राण था पाया,
अहो, अन्त में स्वयं इन्द्र ने
मस्तक यहाँ झुकाया,

आज शोक-सागर में डूबे
व्रज के नर औ' नारी,
छिपे कहाँ जा कर भूले-से
अशरण-शरण, मुरारी ?

क्यों न अँगुलियों से आकर वह
लेते हमें उबार,
क्यों न आज बनते वह टूटी
तरणी के पतवार ?

एकवार फिर होता विस्मित
लख कर यह संसार,
चकित पुनः हम को विलोकते
झंझा औ' मँझधार !

होने को जाता व्रजमंडल
जलकर जिस दिन क्षार,
किया अनल को शांत उन्होंने
दे-दे कर जलधार ।

आज जल रहा विरहानल में
धू धू कर यह प्रान्त,
उसके असह ताप से आकुल
हुए सभी उद्भ्रान्त ।

पशु, पक्षी, मानव-जीवन का
होता दुखद दिनान्त,
आओ, इन्हें बचाओ, नटवर,
कर ज्वाला को शान्त।

हा ! देखो ये मोर विचारे
त्याग चुके हैं नाच,
झुलसाती इनकी पाँखों को
विरहानल की आँच।

विना स्वाति-जल पाये चातक
हुए आज हैं मूक,
है विषाद से भरी हुई ही
यह कोयल की कूक।

मृगशावक की प्रकृत चपलता
मानो हुई विलीन,
भाव-चन्द्रिका जा कर दुख के
तमोराशि में लीन।

धरणी ने अपनी वेणी के
त्याग दिये हैं फूल,
हुई जा रहीं बल्लरियाँ ये
सूख-सूख निर्मूल ।
कहाँ पूर्व-सी अब पनघट पर
होती जमघट––भीड़,
सन्नाटा-सा ही लगता है
तरणि-तनूजा-तीर !
सखी, हार ये उर के लगते
निपट भार-से ही तो,
अंगराग ये लगते तन में
तप्त, क्षार-से ही तो ।
हटा दिये हैं तन के मैंने
अलंकार वे सारे,
मुख-ताम्बूल, तजे हैं मैंने
तन-शृंगार वे प्यारे ।

किसके तन-सुस्पर्शन से ये
जागृत भूषण होंगे,
किसका तेज ग्रहण कर-कर ये
तन के पूषण होंगे ?
अरी, मदनमोहन के तन की
वह सुगन्धि अति प्यारी,
चुर-चुरा कर वसन निशा में
होंगे फिर अभिसारी ?
मृदुल गंधवाही वह मारुत
पावन, रुचिर, अगाधा,
लायेगा वह ध्वनि वंशी की—
राधा, राधा, राधा ?
कानों में जिसके पड़ते ही
मैं पागल-सी हो कर,
दौड़-दौड़ कर जाती वन में
अपनी सुधबुध खो कर।

झड़ते हुए फूल बालों के
पथ चिन्हित करते थे,
जिसके लिए भिल्लिनी-दम्पति
आपस में लड़ते थे।
कृष्णसार थे मार्ग-प्रदर्शक
मुझे वहाँ पहुँचाते,
जहाँ प्राण गोकुल के बसते
हँसते, वेणु बजाते।
मंत्र-मुग्ध-सी चरणों पर मैं
नत-मस्तक सुनती थी,
लेट प्रेम के धागे मानो
अन्तर में बुनती थी!
कब इस मस्तक पर फिर मेरे
श्यामल चरण पडेंगे,
पाद-रेणु के काले कुन्तल
कब फिर रंग धरेंगे?

चरणों पर उनके होगी पर
मम सेंदुर की छाप,
मिट जायेंगे फिर तो मेरे
भाग्य-चक्र अभिशाप !
पर मेरी यह करुण कहानी
उन्हें सुनाये कौन,
मेरी इस दयनीय दशा पर
हुआ पवन भी मौन ।
मेरे कानों तक लाता था
उनकी सदा पुकार,
विह्वल, विकल, मुझे करने को
रहता सदा तयार ।
क्यों न आज वह मेरा लेकर
जाता प्रणय-सँदेश,
या कि चरण-रज लाता उनका
हरता उर का क्लेश ।

किन्तु बुरे दिन में होता है
किसका कौन सहायक,
सभी स्वार्थ-साधन में रत हैं
निज गीतों के गायक !
बीत रही है उर पर क्या-क्या
कैसे उन्हें जनाऊँ,
करूँ हाय, क्या, किस विध उन तक
निज संवाद पठाऊँ ?
ग्रीष्म-सरित-सी क्षीणकाय में
लहर कहाँ से लाऊँ,
इन अपने नयनों के जल से
भाव-तरंग बहाऊँ ।
रंग सुनहला तन का मेरा
रहा पीत ही अब तो,
चंपक-भ्रम से षट्पद रहते
सदा दूर ही तब तो ।

बर्बस मुझे पिन्हाये उस दिन
मा ने आभूषण थे,
सकी न भार सँभाल और फिर
गिरते वे प्रतिक्षण थे !
देख उन्हें सुस्मरण हुआ जब
मकराकृत कुंडल का,
जो सौन्दर्य्य बढ़ाता अगणित
उनके मुख-मंडल का,
तो रोयी मैं सिसक-सिसक कर
इसी भूमि पर जी भर,
तोड़ चला क्यारी धीरज की
उर का द्रुतगति निर्झर ।
महासिन्धु-सा ही वियोग का
फिर सागर लहराया,
गोवर्धनधारी ! अब हा ! हा !
मरणकाल-सा आया ।

आओ झपट, बचाओ प्रियतम,
आओ, आओ, आओ,
मेरे सब अपराध छमो, अब
और न देर लगाओ।
एक-एक क्षण है वियोग का
एक-एक युग मेरा,
अष्टप्रहर तम यह विषाद का
रखता बना अँधेरा।
पथ के घिरा चतुर्दिक रहता
मानो गहन कुहेरा,
हाय, लगेगा कूल-किनारा
कैसे जीवन-बेडा ?
हुई गर्विता थी व्रजागना
पर किसके कारण से,
यदि कौस्तुभ करता घमड है
तो किसके धारण से ?

तूने ही तो हमें चढ़ाकर
शीश, बढ़ाया मन था,
कितनी राजसुताओं को तज
तूने किया वरण था।
हुई मानिनी जब-जब तूने
पकड़ा स्वयं चरण था,
तेरी छवि ने किया चित्त का
सांगोपांग हरण था।
फिर इसमें आश्चर्य्य भला क्या
हुई गर्विता राधा,
जो मधुसूदन के अधरों का
करती पान अबाधा!
अहंकार का कारण तू ही
करता तू ही दंडित,
नहीं न्याय के पथ से हटते
मानी, ज्ञानी, पंडित।

फिर भी, यदि अभिमान किया तो
क्षमा चाहती तुझसे,
सहा न जाता है वियोग यह
एक दंड भी मुझसे।
तम का घूँघट हटा देखती
उषा क्षितिज से आकर,
कुसुम विहँस पड़ते जिस क्षण हैं
उसकी आहट पाकर;
त्वरित चक्रवाकी से आकर
चक्रवाक मिलता है,
विरह-बाण से हृदय हमारा
बार-बार छिलता है ?
रश्मि-यान पर चढ़कर आते,
प्रातर्रवि पर्वत से,
तरुण किरण मिलती पंकज से,
मिलनातुर अति द्रुत से।

रोता हृदय देख यह मिलना,
प्रियतम और प्रिया का,
विकल भाव यह देव गिराते
नेत्र दृगम्बु हिया का।
शिखिनी शिखी, कपोत कपोती,
मृग से हरिणी मिलती,
मैं ही एक वियोग-ताप में,
व्याकुल प्रतिपल घुलती।
अभी, अभी, कानों में मेरे
पद-आहट-सी आयी,
कहा किसी ने मानो 'राधा'
पर कुछ देख न पायी।
आहट मिलती सदा, हाय पर
आहट भर ही रहती,
आशा के वश सरित-स्रोत पर
निरुद्देश-सी बहती !

तरु-शाखा पर यह विषण्ण-सी
बैठी कौन अकेली,
छोड़ गयी है तुझे दगा कर
तेरी कौन सहेली ?
शिखिनि, बता तुझको भी आयी
क्या उनकी ही याद,
क्या तेरे भी छायी उर में
काली घटा, विषाद ?
अरी सारिके, भूल गयी तू
उड़ना, टेर लगाना !
गर्दन झुका, बैठ डाली पर
सीखी समय गँवाना ?
गंधराज खोकर अपना यह
गंध तुरत मुरझाते,
वैजन्ती के फूल न खिलते
और न दाने आते ।

अरे न छू मेरी ठोड़ी को
उड़ा दुकूल न मेरा,
पवन अनाड़ी, केशपाश का
मुरझा फूल न मेरा।
जिनके हेतु सँजोया इसको
स्वागत उनका करना,
मन्द मन्द बह कर आने पर
श्रम को उनके हरना।
सखी मालती ! देख चुरा कर
गंध न यह ले जाये,
नाम गंधवाही इसका है
रखना इसे बचाये।
री सौदामिनि, पथ दिखलाना
तू, हैं सखी पुरानी,
तेरे ऋण को भूल न सकती
तेरी विगत कहानी।

अभिसारी जब हुई निशा में,
तूने पथ प्रियतम का,
हटा-हटा दिखलाया घन का
गहन आवरण तम का।
आते होंगे घन-भामिनि, सुन
प्राणेश्वर अब मेरे,
पथ प्रकाशमय करना उनका
रहें न ये घन घेरे।
हाँ देखो, यह प्रकृति-नटी ने
सहसा पट-परिवर्तन--
किया, और बिखराती जग में
नव हासों के मृदु कण!

× × ×

धन्य प्रकृति की तूली!
डाल-डाल पर देख सखी! यह
रक्तमुखी अब फूली।

नव परिहास-विपिन में इसके
लघु तितली अब भूली,
चढ़ कर विटप-हिंडोल फूल के
रँगरेली में झूली।
सुध बिसरायी तन की, गृह की,
हुई यदपि गोधूली,
प्रणय-विस्मृता, समझ न पायी
चढ़ी प्रेम की शूली!
धन्य प्रकृति की तूली!

× × ×

विहँस उठी यह रजनीगंध,
मलय समीर लगा बहने अब
आयी झटपट सन्ध्या।
खुले हुए उसके केशों से
गिरते झड़-झड़ फूल,
वासकशय्या के तट, मानो
फेन, जाह्नवी-कूल!

धीमी चालों से, छिपती-सी
उड़ते पकड़ दुकूल,
आयी वह, छाया तन-सौरभ,
मानो पथ में धूल ।
जला-जला कर लघु प्रदीप को
ये खद्योत अजान,
विकल कर रहे उसका ही क्या
जहाँ-तहाँ संधान ?
सिन्दुर लगा माँग में अपनी
पारिजात की कन्या,
किसके आलिंगन की करती
सखी, प्रतीक्षा, धन्या ?
देख, देख, प्राची में सहसा
लगी कहीं पर आग,
ये चकोर के दल जाते हैं
उसी दिशा को भाग ।

है आदर्श प्रेम इनका सखि
हैं ये धन्य, महान्,
शशि-शीतलता और अग्नि को
लेते एक समान ।
चन्द्र उदित हो गया व्योम में
अमृत-कलश-सा, गोल,
प्रतिविम्बित नभ-नील-सिन्धु पर
लख, कुंडल यवलोल !
यमुना के इस श्यामल जल की
सहसा बढ़ी हिलोर,
क्रौंची-क्रौंच निहार रहे हैं
एक अन्य की ओर !
तज क्रन्दन कुररी भी बैठी
आज शांत-सी तट में,
है खगोल-भूगोल मध्य नव
सुस्पन्दन घट-घट में ।

क्या कानों में इनके आयी
ध्वनि उनके नूपुर की,
या कि दूर पर सुनी इन्होंने
ध्वनि वंशी के सुर की ?
द्वार द्वार पर बँधी हुई ये
गउएँ लगीं रँभाने,
स्वागतार्थ मानो गुपाल के
गातीं हैं वे गाने ।
बछड़े कूद रहे हैं उनके
उनसे ही मिलने को,
जिनके चरणों के समीप वे
यदा-कदा रहते सो ।
री कोयल, तू बड़ी निगोड़ी
क्यों बैठी चुपकी-सी,
तज विषाद, गा, गा, जोरों में,
बैठ न अब तू रीसी ।

सखी मालती, निज फूलों की
कर ले प्रस्तुत माला,
देख, आ रहे अभी-अभी ही
लौट नन्द के लाला।
मिलन-माधुरी की निर्मित वह
होगी फिर मधुशाला,
और तोड़कर नाचेंगी हम
पुनः विरह-विष-प्याला!
अरी निर्दयी नींद, आज क्यों
आयी तू पलकों पर,
जा, जा, वहाँ, जहाँ घर तेरा
नागिन-सी अलकों पर—
किसी प्रेयसी की, जो होगी
सुप्त अंक में प्रिय के,
होते फलित मनोरथ सारे
सद्यः जिसके हिय के।

तुझे ढूँढ़ती थी मैं जिस दिन
तू न पड़ी दिखलायी,
आज मुझे करने को निद्रित
उर में तेरे आयी !
नहीं, नहीं, मैं आज जगूँगी
निर्निमेष नयनों से,
पथ हेरूँगी जीवन-धन का
मुक्त-द्वार-अयनों से ।
री मेरे पाँवों की पायल
चिर-सहचरी, सुप्यारी,
जाग, जाग, आते ही होंगे
अब वह कुंज विहारी ।
उनकी पाद-पद्म-पैंजनि से
तू भी आज मिलेगी,
मूक हुई बरसों की वाणी
तेरी आज खुलेगी ।

वंशी के उस स्वर में तेरा
स्वर होवेगा लीन,
उनके सँग नृत्य में हूँगी
जभी सजनि, तल्लीन ।
थर-थर काँप रहा क्यों भूधर
क्यों उद्वेलित जल है,
वेणु-नाद से सिहर उठे या
आकर्षण का बल है ?
अपलक नयनों से तारे ये
देख रहे धरती को,
स्वाति-बूँद देने मुख-छवि की
मानो अपने जी को ।
या प्रस्तुत ये खड़े हुए हैं
पुष्प-वृष्टि के कारण,
व्योम-गीत की मालाएँ जो
गूँथ रहे निज प्रांगण ।

स्वर्गंगा से हुआ सुसज्जित
नभ का यह पथ सुन्दर,
चलता जहाँ देवताओं का
सज्जित अति रथ सुन्दर।
क्या इस पथ से ही आवेंगे
आज प्राणधन, बोलो,
जिसके प्राण प्रतीक्षा करते
आतुर, प्रतिक्षण, बोलो ?
दिनमणि का अवसान हुआ, निशि
ने खोला घूँघट-पट,
रुकी न तो भी आज मयूरी
की सुन लो, अब तक रट ;
दिन बीता, पर राजहंस ये
मृदु कलरव करते हैं,
नितप्रति सँग मराली के जो
अभिनय नव करते हैं।

प्रेम-सूत्र में बँधे हुए ये
काम-मुग्ध हैं भारी,
ज्ञानवंत, पीते सदुग्ध पर
तज देते हैं वारी।
आने लगे पवन के झोंके
जवन कहाँ से सहसा,
अग्र-दूत बन कर आया क्या
पवन वहीं से विहँसा ?
क्यों प्रदीप की लौ बढ़ कर के
झिलमिल करती जाती,
क्या तेरे भी तन में सिहरन
बोल, उमड़ती आती।
मधुर कान मे यह क्या आयी
बढ़ी हाय, उर-धड़कन,
किसी दूर नूपुर की रुनझुन
और पवन की सनसन्।

मन व्याकुल-सा हुआ जा रहा
समझ नहीं कुछ पाती,
कभी चाहता जी हँसने को
कभी रुलाई आती ।
ग्वाल-वंश की दुहिताएँ हम
ले कर सर पर मटकी,
व्रज की डगर-डगर में, वन में
कालिन्दी-तट भटकी,
पर न कहीं दुखिया आँखें ये
पुनः पीत-पट अँटकीं,
घर आयीं नैराश्यपूर्ण हो
दधि की मटकी पटकीं ।
किन्तु आज शोभा ही बदली
गाँव-गाँव, घट-घट की,
सभी प्रतीक्षा करते मानो
हर्षित नागर-नट की ।

हाँ नागर-नट की, वियोग में
जिसके ब्रज-बालाएँ,
निष्प्राणा-सी हुईं, जलातीं
जिन्हें विरह-ज्वालाएँ।

सखी, देख वह पीताम्बर की
झलक-झलक आती है,
वह करधनी स्वर्ण-आभा ले
मद से अति माती है।

कुंडल-द्वय वे झलक उठे हैं,
छवि मानो विद्युत् की,
रंग वही सबका पहिचाना,
छटा श्याम-जलसुत की।

मुकुट वही, हाँ वक्षस्थल पर,
मणि भी वही चमकता,
जिसे देखते ही इस तन का
रोम-रोम हँस पड़ता।

पर अन्तर्हित हुए हाय, फिर
देख नहीं पड़ते क्यों,
बाहुपाश में लेने को वे
हाथ नहीं बढ़ते क्यों ?
हा, हा, चले गये वह आहा !
किस दिशि को वनमाली,
पाँवों से धरती यह मेरे
हटती जाती आली ।
शिथिल हुआ जाता यह तन है,
सम्मुख नेत्र, अँधेरा,
आच्छादित-सा हुआ चतुर्दिक
सहसा गहन कुहेरा ।

× × × ×

राधा हुई मूर्च्छिता, मानो
ब्याधा के बाणों से,
अद्यावधि धरणी है गुंजित
प्रीति-रीति गानों से--

जिसके, प्रेम-कहानी शाश्वत
है अमूल्य निधि उसकी,
भक्तवृन्द हैं सदा चाहते
चरण-धूल ही जिसकी !

रोती सिसक-सिसक वह भू पर
चन्द्रमुखी, व्रजबाला,
पिया जिन्होंने प्रिय-वियोग का
दैव ! हलाहल प्याला ।

ललित लवंग लता पर मानो
गिरा शिशिर का पाला,
चिर-विछोहमय निज जीवन की
जला रही थी ज्वाला !

कृष्ण

हुई जिससे भव-भू की सृष्टि,
सतत सब पर करुणा की वृष्टि,
भक्ति से ही जिसकी परितुष्टि
सदा भक्तों पर जिसकी दृष्टि,
जिसे कहता जग उसकी रुष्टि,
लोक-हित की ही उससे पुष्टि—
वही मानव-तन में आबद्ध,
प्रकृति के नियमों से संबद्ध,

एक दिन कर अपने सम्पन्न
कार्य दिन के, गंभीर, विषण्ण,
सखे ! उद्धव से बोले, आज,
त्याग कर सब यह लोक समाज,
स्वयं मन स्वर्णपुरी को भूल,
गया उस कालिन्दी के कूल,
जहाँ कुररी-सी करुणा-नाद,
आज भी करतीं वे सोन्माद,
गोपियाँ व्रज की, विविध प्रलाप,
जलाता जिन्हें विरह का ताप ।
कान में आता वारंवार,
करुण राधा का हृदयोद्गार,
न था, पर, राधा का अभिशाप,
न गोपीजन का कलुष कलाप,
कि जिससे व्रज को आया छोड़,
पला जिसके था मृदुमय क्रोड़ ।

पालना था मुझको कर्त्तव्य,
देश वह आया तज कर भव्य,
मिटा व्रज का मानो आलोक,
हुए हतप्रभ से ही जन ओक,
आसुरी शासन का वह शेष,
मुझी को था करना उद्देश;
यदपि मातुल थे, किया प्रहार,
मिटाया भूतल का वह भार,
उन्हें मरना था मेरे हाथ,
दुराचारी, असुरों के नाथ,
यदपि, था किन्तु उन्हें वरदान,
गँवाना मेरे हाथों प्राण ।
मृत्यु कहते जिसको सब लोग
पूर्व-कर्मों का जन के भोग,
मृत्यु वह नहीं, गूढ़तम तत्व,
मर्त्य भव तज पाया अमरत्व ।

और भी करने थे बहु काज,
द्वारिका का सजना यह साज।
यदपि था प्यारा गोचर-रूप,
मुझे बनना था फिर भी भूप,
हृदय मे रखता मानव एक,
कर्म पर करता वह व्यतिरेक,
नियति का चलता भारी चक्र,
नही बच पाते उससे शक्र।
भ्रमित-से होते उस पर सर्व,
गर्व वह करता सबका खर्व,
और होती इच्छाएँ चूर्ण,
उसी मे मानव की सम्पूर्ण।
प्रकृति का, माया का यह जाल,
सविस्तृत, चारो ओर, विशाल,
सभी उसमे ही सदा निबद्ध,
नृत्य करते पुतली-सा, वद्ध।

नियम है उसके सदा अकाट्य,
सृष्टि है केवल उसका नाट्य,
नियति वह मेरे सदा अधीन,
रहा करती कर्मों में लीन,
लिये निज कन्धों पर जो भार,
उसी के द्वारा रहा सँवार,
शोक से होते जब सन्तप्त,
और रोते हैं मेरे भक्त,
परिस्थितियों से होकर त्रस्त,
देखता, सुनता, सदा समस्त,
किन्तु हो कर पाषाण समान,
सफल होता करना सुविधान ।
कर्म हैं कितने अब भी शेष,
जिन्हें करना है मुझे अशेष,
और तो, स्वयं कृष्ण का वंश,
अभी तो होना है विध्वंस !

आज जो विचर रहे सानन्द,
पी रहे भव का मधु-मकरन्द,
समझते निज को अति स्वच्छन्द,
नियति के सभी बँधेंगे फन्द,
परस्पर लड़कर देंगे प्राण,
जिन्हें है बल पर निज अभिमान,
न जाने, कितने ऐसे कृत्य,
करेंगे, हो कर अनुचर भृत्य।
सामने जिस पद के संसार,
झुकाता सिर निज वारंवार,
अनिद्रित-सा रह कर दिन रात,
सोचता वह मानव की बात।
लौह के उसके नियम समान,
दुखाते उसके भी हैं प्राण,
किन्तु निज को उनमें ही बाँध,
रहा वह संकल्पों को साध।

उसी ने रच यह सृष्टि-विधान,
किया विधि-नियति-काल-निर्माण,
बहाया करुणा का भी स्रोत,
बना निज भक्तों का चिर-पोत !
भूल मैं क्या सकता व्रजधाम,
गोपियों का वह प्रेम ललाम,
धेनु चारण, या वादन वेणु,
या कि कालिन्दी का तट-रेणु ,
और वह वंशी-वट की छाँह,
रास-मंडल का प्रेम-प्रवाह,
भरी रग-रग में जिनके प्रीत,
उच्च उनके वे स्वर, संगीत,
कदम्बों पर वे लगे हिंडोल,
गोपबाला के लोचन लोल,
विन्दु वे श्रम के मुख पर गोल,
कान के कुंडल-द्वय यवलोल,

प्रणय-गीतों का वह स्वर-स्रोत,
माधुरी से जो ओतप्रोत,
पाँव-पायल की वह झनकार,
मृदंगों की गहरी गुंजार,
निनादित जिनसे तीनों लोक,
श्रवण कर जिनको सकीं न रोक,
अमरबालाएँ, हृदय-अधीर,
दौड़ कर आयीं, पुलक-शरीर,
व्योम से, उड़ते हुए दुकूल,
गिरातीं वार-वार वे फूल,
ग्रन्थि वेणी की उनकी आप,
काम का सह न सकीं जब ताप,
गिरीं खुल-खुल कर वारंवार,
रहीं इकटक वे हमें निहार,
हुए प्रतिक्षण पुलकित तन-रोम,
तजी संज्ञा, मानो पी सोम।

लगायी कोयल ने जब तान,
पपीहा करता 'पी-पी' गान,
नाचते सुधबुध भूले मोर,
प्रकृति ही मानो हुई विभोर,
खिले सहसा वन के सब फूल,
गये ऋतु के नियमादिक भूल,
और उनकी मृदु सुरभि महान्,
लगा लाने ढो-ढो पवमान,
खड़े कस्तूरीमृग, तज ज्ञान,
दे रहे थे सौरभ का दान।
गोपियों के अति पुलकित अंग,
नृत्य के उनके सुन्दर ढंग,
बजाती कर से मृदुल मृदंग,
गर्व करतीं अनंग का भंग,
रही धन्वा उसके बस हाथ,
चित्रवत्, दिया न उसने साथ।

देख कर यह अद्‌भुद् रस-रंग,
हुआ हतप्रभ-सा, चकित, अनंग,
और वह मेरा रूप त्रिभंग,
लखा सबने निज-निज ही संग !
रास के रस का कर मधुपान,
तजा सबने सत्वर निज ज्ञान ।
न सुधि तन की, मन की थी शेष,
बोध भव का न रहा लवलेश,
त्याग कर अपना स्थूल शरीर,
सिन्धु में यथा सरित का नीर,
विदेही-सी हो सभी प्रवीण,
हुईं मुझमें ही आकर लीन ।
मुझे था प्रण-पालन ही इष्ट,
युगों का करना पूर्णाभीष्ट,
योगमाया को ले निज संग,
रचा रस का यह रुचिर प्रसंग ।

जिन्होंने पाया इसका स्वाद,
प्रेम का हुआ जिन्हें उन्माद,
गोपियाँ वे व्रज की अति धन्य,
न उनसा होगा कोई अन्य,
मिटायेगा भव-बाधा, शूल,
स्मरण उनका, उनकी पद-धूल ।
प्यार से उनके पर मुँह मोड़,
विलपती क्रौंची-सी ही छोड़,
मनोरथ के कुसुमों को तोड़,
यशोदा का तज कोमल क्रोड़,
किया फिर भी मैंने प्रस्थान,
पूर्ण करने कर्त्तव्य महान् ।
सखे, था होना यह निर्दिष्ट,
दैव के नियम बड़े हैं क्लिष्ट,
न उनसे मिला आज तक त्राण,
व्यर्थ हैं मानव के अभिमान !

बिताया शिशुपन जहाँ समोद,
पला मैं जिसकी पावन गोद,
बिना मेरे न जिसे क्षण चैन,
अनिद्रित काटी कितनी रैन,
यशोदा थीं मा से भी श्रेष्ठ,
प्रेम जो देती रहीं यथेष्ट ।
रचे मैंने नित नूतन खेल,
दिये कितने दधि-पात्र उड़ेल,
किये छिपकर वितरित नवनीत,
किया हँसकर ही मुझे अभीत ।
आज जब आती उनकी याद,
हृदय में आता परम विषाद ।
गोपियों के तन का वह ताप,
निकलते उच्छ्वासों की भाप,
विरह की जलती जिनमें आग,
भस्म होता जिससे अँगराग,

विरह से हो व्याकुल सुकुमारि,
गिराती गालों पर दृग वारि,
कालिमा-रंजित, मुख बदरंग,
बिखर करता काजर का रंग,
अर्द्धनिशि का कारुण्य विलाप,
पागलों-सा वह विकल प्रलाप,
जल रहे हैं उनके जो प्राण,
सर्वदा रहती दु:खित म्लान ।
अश्रु राधा के उष्ण महान्,
अंग में चुभते जो बन बाण,
उठा अन्तर का वह तूफान,
मुझे इनका है सन्तत ज्ञान ।
कहूँ पर कैसे इसे पुकार,
दिखाऊँ उर की आग उभाड़,
भाव को उर में ही, पर, सुप्त,
इसे रखना ही होगा गुप्त,

नहीं औरों-सा हुआ स्वतंत्र,
बनाता पद जन को परतंत्र।
स्वर्ग से मंडित ये प्रासाद,
कर रहे जहाँ अश्व, गज, नाद,
कर रहीं राज-नर्तकी नृत्य,
डुलाते चँवर राजकुल-भृत्य,
वाद्य-यंत्रों के रव नभ भेद,
इन्द्र के भी मुख लाते स्वेद,
किये उज्ज्वल जिनने निज वंश,
सीखते गति जिनसे गज, हंस,
कहातीं सुन्दरता की खान,
वंश पर जिन्हें बड़ा अभिमान,
राजमहिषी वे यदपि अनेक,
चतुर्दिक रूपाभाएँ फेंक,
कर रहीं ज्योतिर्मय गृह-प्रान्त,
और मैं उन सबका प्रिय कान्त।

सर्वदा रहतीं मेरे पास,
मुखों पर बिखरा सरस, सुहास,
डुलातीं विजन, खिलातीं पान,
बोलना उनका मानो गान,
पूर्ण जब करतीं तन शृंगार,
शची भी सकुचातीं सौ बार,
मंद अलि की होती गुजार,
गूँजती जब पायल-झनकार,
द्वारिका में आकर विश्राम,
स्वयं सुर भी लेते अभिराम,
किन्तु यह स्वर्ण-पुरी, मणि-ओक,
न लाते उर में वह आलोक,
कि जिस पर भावों के सुपतंग,
दौड़ते, गिरते, यथा कुरंग,
सजी मणियों से यदपि अनूप,
द्वारिका ला न सकी वह रूप,

वस्तु जो व्रज में घर-घर व्याप्त,
नहीं वह सुरपुर को भी प्राप्त,
बड़े नग-नगरी के भी मान,
हुए मर्दित जिनसे, अति म्लान,
देखते वे भी व्रज की ओर,
जहाँ रजकण भी प्रेम-विभोर,
बना निज लीला का सुस्थान,
दिया पद मैंने जिसे महान् ।
कहूँ क्या व्रजबाला की बात,
हुआ जिन पर वह तुहिन-निपात,
सोचती--होगा स्वर्ण-प्रभात,
और भी गहन हुई, पर, रात--
छोड़ कर उन्हें दुखी, विलपंत,
द्वारिका को आया मैं अन्त !
जान कर जाते मुझे दुरंत,
उठीं वे रो, कह कर, हा हंत !

शृंग से गिरि के किरणे लुप्त,
यथा होती जा तम मे सुप्त,
सभी आशाएं हो कर क्षीण,
निराशा मे अन्तर्हित, लीन,
हुई, जा बँधी नियति के पाश,
शोकमय यह जीवन-इतिहास !
और बन्धन मे वन का मोर,
बँधा लेकर शासन की डोर।
झुकाता सन्मुख उनके शीश,
यहाँ वह बना द्वारिकाधीश !
कहाँ यह तरु-कदम्ब की छाँह,
कहाँ यह राजनीति की राह !
सदा बक्री ही जिसकी चाल,
बिछाता रहता प्रतिक्षण जाल,
फँसाता औरों को दे भाँप,
कभी फँसता अपने ही आप।

प्रेम का बना न वासस्थान,
कूट ही नीति जहाँ सुप्रधान,
फूलते गुड़हर के ही फूल,
भूलते अपनेपन को भूल,
पड़ा करना इससे ही योग,
और विधि को देना सहयोग,
क्योंकि विधि के सारे ही काम,
मुझी से हैं प्रेरित, अविराम,
बुरे हों या कि भले ये कार्य,
किन्तु हैं अमिट और अनिवार्य्य।
चित्र सन्मुख आँखों के आज,
दीखता गिरता विद्युत् गाज,
बन्धु-बान्धव से ध्वंश समाज,
टूटते बड़े-बड़े साम्राज।
काँपती हरिणी-सी असहाय,
द्रौपदी सभा-बीच निरुपाय।

फटती जिससे रण की आग,
उठी ज्वाला ज्यों सहसा जाग,
जल रही हू-हू कर दिन-रात,
मचा भीषण जग में संघात।
चिता भारत की अति विकराल,
जल रही, खड़ा सामने काल।
बड़ा, विस्तृत-सा, रण का क्षेत्र,
निरखते हैं सन्मुख ये नेत्र।
बह रही जहाँ रक्त की धार,
काँपती धरणी जिसे निहार,
गिर रहे कट-कट कर नर-मुंड,
उड़ रहे गृद्ध बाँध कर झुंड,
बढ़ा कर अपने लम्बे शुंड,
लुटाते गज मृत-मानव-रुंड,
क्षेत्र यह रण का—या बलि-कुंड,
प्रज्ज्वलित वह्नि खोल कर तुंड,

ले रही बलि क्षण-क्षण हुंकार,
माँगता रक्त रक्त-प्रतिकार,
बह रही कहीं लहू की धार,
कहीं पर करते जन चीत्कार,
कहीं घन-गर्जन-धनु-टंकार,
कहीं पर अस्त्र-शस्त्र-बौछार,
कहीं पर बाँध झुंड दु:स्वान,
रुधिर का करते प्रतिपल पान,
प्रेतिनी कहीं, कहीं पर प्रेत,
किलकिलाते आनन्द समेत,
नाचते शव पर अति विकराल
मुंड की पहन-पहन कर माल,
गिर रहे टूट-टूट कर छत्र,
मचा है उथल-पुथल सर्वत्र,
मचा मानो भीषण भूचाल,
देखता खड़ा प्रलय विकराल !

देख कर होता कंपित गात,
पर न यह रुकने वाली बात,
रहेगा हो कर ही संग्राम,
विधाता है भारत के वाम,
सिन्धु-जल में भविष्य के डूब,
जानते हुए इसे भी खूब,
पालना है मुझको कर्तव्य,
यत्न करने है नितप्रति नव्य,
रोकने का यह भीषण युद्ध,
द्वार हो नर हत्या का रुद्ध,
और यह पारस्परिक प्रहार,
बन्धुओं का न लखे संसार,
विफल हो या कि सफल यह यत्न,
मुझे करना है सतत प्रयत्न,
न रखते फल पर जो निज ध्यान,
वही नाटक के पात्र महान्।

विश्व यह रंग-मंच है एक,
और हम निज वस्त्रों को फेंक,
नटों का ही धारण कर भेष,
नहीं रख कर अन्तर लवलेश,
सफल करते हैं अपने काम,
तभी लेते जा कर विश्राम।
कुसुम-सा यद्यपि कोमल भाव,
छिपा अन्तर में दिव्य प्रभाव,
हृदय मानो सद्यः नवनीत,
भरी शीतलता, परम पुनीत,
किन्तु ऊपर से लौह समान,
न मुख पर हर्ष, या कि मुसकान,
सदा कर्तव्यों में ही लीन,
रीति यह परम्परा प्राचीन।
नहीं कर्तव्यों का पथ छोड़,
शस्त्र के नियमादिक को तोड़,

पा सका कोई उच्चतर स्थान,
या कि गौरव का पद सुमहान्,
राम ने लेकर दीर्घोच्छ्वास,
दिया सीता को वन का वास,
बताया यही उन्होंने भव्य,
प्रेम से बढ़ कर है कर्तव्य !
हृदय में लाकर के भी शोक,
न्याय का पथ न सके वह रोक।
खेलता हूँ मैं जिनके साथ,
समझती जो मुझको निज नाथ,
सखे ! आत्माएँ यद्यपि गूढ़,
हैं विभक्त हुई समस्त विमूढ़
सभी है मेरे ही तो अंग,
वह्नि के उड़ते यथा स्फुलिंग,
सभी हैं मुझसे यदपि अभिन्न,
समझती अपने को पर भिन्न,

इन्द्रियों से यद्यपि स्वाधीन,
स्वयं पर उसके हुईं अधीन,
बिछाया माया ने यह जाल,
ज्ञान-असि से लड़ने की ढाल।
ज्ञानवन्तों का ही सम्राट,
बुद्धि से सकता इसको काट;
चतुर्दिक मानव के पर पाश,
न ले सकता वह खुल कर साँस,
उसी में वह आवद्ध महान्,
समझता पर निज को बलवान,
चक्षु पर उसके गहन, विशाल,
दिया माया ने पर्दा डाल;
कर्म के मेरे हेतु, सुअर्थ,
समझने में मानव असमर्थ,
मुझी से प्रेरित सारे कृत्य,
पुतलियों-सा करता है नृत्य.

किन्तु कर्ता निज को ही मान,
कर रहा मूर्ख शक्ति-अभिमान
मोहवश भव-हिंडोल पर झूल,
रहा वह मद में मुझको भूल,
गलत पड़ती जब उसकी चाल,
विकल होता, रोता, बेहाल
तभी निज संकल्पों को त्याग,
सभी कर्मों से फिर तो भाग,
दौड़ कर आता मेरी ओर,
पोंछता मैं आँसू, ले क्रोड़,
किन्तु माया फिर उसको खींच,
डालती भव के गर्हित कीच,
अहं के आते मन में भाव,
और फिर मुझसे पुनः दुराव,
ज्ञान है यदपि उसे उपलब्ध,
ताप-त्रय से फिर भी है दग्ध,

ज्ञान का पा करके सहयोग,
भक्ति मे करके योगायोग,
आप ही बन जाता भगवान,
किन्तु वह निपट अज, नादान,
स्वयं ही हो कर बन्दी, हाय,
विचरता भव-भय में निरुपाय !
तपाते उसे तीन वे ताप,
कि जिन से बच सकता था आप !
कौरवों का ऐसा ही हाल,
लिखा जो उनके मस्तक-भाल,
पूर्ण वह होगा निःसन्देह,
(यदपि उनसे भी मेरा स्नेह)
मद-भरे, अहंकार मे चूर्ण,
मूर्खता मे अतिशय परिपूर्ण ।
घूमता कर्म-चक्र में जीव,
मनुज है ऐसे केवल क्लीव ।

न अपना वर, या इच्छा शक्ति,
असत में ही उनकी अनुरक्ति,
सत्य से मानो उन्हें विरक्ति,
बन्धनों में भव के रत्न भक्ति,
डूबते भय-अर्णव निरुपाय,
विधाता से चालित, निरुपाय,,
सुनेंगे कौरव मेरी बात,
रुकेगा तब तो यह संघात,
नियति होकर के भी तो वाम,
न कर पायेगी अपना काम,
किन्तु यह हो सकता क्या साध्य,
सृष्टि का नियम, अकाट्य, अवाध्य
यदपि कंपित है मेरा गात,
सभी हैं मेरे बान्धव, तात,
मुझे पर होना है पाषाण,
रचा मैंने जो स्वयं विधान,

हटा कर कौरव का कुल-शाप,
विफल कर दूँ उसको ही आप ?
मनुज-सा ही दोलाचल-चित्त,
मोह से मिला हुआ, आवर्त्त,
बनें मेरे भी यदि ये कर्म,
भुला दे स्रष्टा भी निज धर्म,
सकेगा ठहर भला क्षण काल,
सृष्टि का ढाँचा यह सुविशाल ?
भूमि पर निपतित, त्वरित, समग्र,
घनों-सा छिन्न-भिन्न, अति शीघ्र,
प्रलय में डूबेगा संसार,
और तम होगा विपुल, अपार।
लिया मैंने, पर, मनुज-शरीर,
लिया उन सा ही सुख, औ पीर,
गुणों से यद्यपि परम अतीत,
उन्हीं जैसी रखनी है रीत,

प्रेम का कर उर में संचार,
विरह का ढोता मैं भी भार,
नाट्य-पट-सा नयनों के बीच,
पूर्व की सुस्मृति आती खींच,
सोचता—दूँगा क्या प्रतिदान,
उन्हें जिनने निज जीवन-प्राण,
और निज जीवन का सुख-सार,
बनाया चरणों का शृंगार,
कुचल कर, आया उन्हें मरोड़,
हृदय की अभिलाषाएँ तोड़,
विरह के छाये घन घनघोर,
दीखता जिसका ओर न छोर;
दिव्य-सी हैं वे सभी, महान्,
शेष ही कर सकते गुण-गान,
हृदय में ला अपने अनुताप,
सोचता कभी-कभी मैं आप—

जलायी क्यों उर-उर में आग,
बढ़ाया क्यों उनका अनुराग,
सुनाया क्यों मुरली का राग,
लुटाया सर्वस्व प्रेम-पराग,
तीव्र कर भूख बढ़ा दी प्यास,
छीन ली मन की उनके, आस,
तड़पती, रोती, अति निरुपाय,
छोड़ कर चला उन्हें असहाय,
साथ में थे मेरे अक्रूर,
सान्त्वना दी जिनने भरपूर,
उन्हें समझाया विविध प्रकार,
ज्ञान की बातें कहीं विचार,
मिटा पर उनका नहीं विषाद,
व्योम तक पहुँचा क्रन्दन-नाद,
वयस की छोटी सभी, अबोध,
भाव का कर न सकीं अवरोध

मर्म तक पहुँचा उनके शोक,
दुःख का तम लागा प्रति ओक।
दुःख-दावानल का अति ताप,
विरह का था असह्य संताप।
लगी करने वे विविध प्रलाप,
कौन सकता था वह दुख माप ?
यदपि लेकर मे चला शरीर,
हृदय का तज कर आया कीर,
वहीं—उस कालिन्दी के तीर,
जहाँ वे भ्रमतीं, विकल, अधीर।
त्याग कर यदि निज मानव-रूप.
देख वे सकतीं आत्म-स्वरूप
सखे, ये मायिक बन्धन खोल,
विचरती वृथा न विकल, विलोल।
रचा जिसने यह सारा कांड,
रचा जिसने यह भव ब्रह्मांड!

उसी के तो ये अगणित रूप,
भिन्न रवि से होती क्या धूप ?
कल्पना ही संयोग-वियोग,
डालता भ्रम में केवल भोग,
प्राप्त कर इसका समुचित ज्ञान,
भोग से पाते जन परित्राण,
आत्माएँ थी यदपि प्रवीण,
पूर्व-जन्मों की, ज्ञान-धुरीण,
किन्तु हो कर के मायाधीन,
तड़पती मानो चक्षु-विहीन,
और उनकी लखकर यह पीर,
प्रकृतिनः होते सभी अधीर।
नियति के है पर नियम कठोर,
सका है कौन इसे कब तोड़,
चक्र इसका चलता अविराम,
अमिट है, दृढ़, इसके सब काम।

कौन समझे उसके उद्देश्य,
जाल में घुस पाये अप्रवेश्य,
तोड़ता गज-सा सृष्टि-मृणाल,
विचरता भव भव में वह काल !
यदपि करुणा से ओतप्रोत,
और बहते दृगम्बु के स्रोत,
किन्तु जल भट्टी में ही स्वर्ण,
प्राप्त करता है उज्ज्वल वर्ण,
अग्नि में वह तप कर दिनरात,
निकलता है अति-उज्ज्वल-गात,
और तब पा घर-घर सम्मान,
कलश वह होता धन्य, महान् ।
जला विरहानल उसी प्रकार,
बढ़ाया उनका उज्ज्वल प्यार,
परीक्षा थी यह यदपि कठोर,
यंत्रणाएँ वियोग की घोर,

किन्तु हो समुत्तीर्ण ही आज,
किया नत-मस्तक लोक-समाज,
विश्व के कवि-कोविद लिख वृत्य,
अमर उनके होंगे कृतकृत्य,
और लिख कर उनका इतिहास,
सृजन पायेंगे बुद्धि-विकास,
सरस निर्झरिणी-सा प्रियमाण,
जगत को देंगे वे जल-दान,
कि जिनका कर यह मानव पान,
मिटा उर की शुष्कता महान,
करेगा भक्ति-भाव-निर्माण,
विमोहित जिससे जीवन-प्राण,
करेगा भव्य-भावना-सृष्टि,
स्निग्ध माधुर्य्य-भाव की वृष्टि,
और ये रोग, शोक, सताप,
सह भव-पीडा, भव का ताप,

आप ही प्राप्त करेंगे नाश,
वायु में उड़ते यथा कपास,
लिखेंगे गोपीजन के नाम,
सतत स्वर्णाक्षर, ललित, ललाम।